THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178115

UNIVERSAL
LIBRARY

वह जग

(सामाजिक मौलिक कहानियाँ)

लेखक—

श्रीइन्द्रजीतनरायण राय एम०, ए०,

नवीन प्रकाशन, मन्दिर

१५/३६ मान मन्दिर काशी।

प्रकाशक —

वासुदेवप्रसाद गुप्त

नवीन प्रकाशन मन्दिर, [illegible] मानमन्दिर काशी।

प्रथम संस्करण १०००	१९४२ ई०	मूल्य	अजिल्द १) सजिल्द १।)

मुद्रक—

बजरंगबली 'विशारद'

श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।

दो शब्द

कहानी क्षेत्र में पहिली बार मैं पाठकों के सामने आ रहा हूँ—इस रूप में। यों तो मेरा 'मज़दूर नेता' भी आपके बीच आ चुका है, पर वह एक उपन्यास रहा। और उपन्यास तथा कहानी दोनों भिन्न हैं—इसी कारण कहानी साहित्य में मेरा यह संग्रह प्रथम प्रयास-सा ही है।

कहानी का रूप सबके लिए एक-सा नहीं होता—लेखक के हाथ से वे जैसी भी ढल जायँ। कहानी लिखने के लिए नियम बने हुए हैं। उन्हीं नियमों के भीतर एक ढाँचा तैयार होता है, और फिर साहित्यिक देखते हैं कि कहानी खरी उतरी है या नहीं। पर मैं इन नियमों को जानता भी न था और न कहानियों का कोई ढाँचा ही मेरे पास था। रूढ़ियों में बँधे नियमों से अनजान, अनुभव-हीन हाथ की ढली ये कहानियाँ हैं। बुरी हैं या भली, इसे आप जानें। मुझे तो अपनी कहानियाँ अच्छी लगेंगी ही, पर साथ ही मेरा विश्वास है कि किसी भी तरह ये आपको भी अरुचिकर न होंगी। आप इन्हें अपनायें और मेरी त्रुटियों को भी दिखलाने की कृपा करें।

कुछ और। इस संग्रह में चार वर्ष (१६३६-४०) की लिखी कहानियाँ हैं। इनमें से कुछ पत्रिकाओं में भी स्थान पा चुकी हैं—'मिलन' सप्ताहिक आज में, 'तरंगों में' माया में, और 'स्वप्न' विद्यार्थी में। इसके लिए इनके सम्पादकों को धन्यवाद। 'वह जग' कहानी कुछ कारणवश एक और ही सज्जन के नाम एक होस्टल पत्रिका में छपी थी। शायद इस संग्रह में उसे स्थान देने का मुझे अधिकार न रह गया था, पर कहानी कुछ अच्छी लगी थी, और इसके लिए वे मुझे क्षमा करेंगे।

गाजीपुर
अप्रैल १६४१ } इन्द्रजीतनारायण राय

सूची

विषय	पृष्ठ
यह जग	१
मिलन	४
भाभी	७
वेश्या हृदय	२२
पति पत्नी	३१
देवदासी	४१
तरंगों में	५२
देवताओं का कपट	६२
कर्म फल	७४
अनोखी भिक्षा	८६
पिया मिलन की आस	९६
स्वप्न	१०७

वह जग

कलियुग के प्रारम्भ में शैतान डरा कि यदि मनुष्य और युगों की तरह ही ईश्वर की आराधना करता रहा, तो एक दिन उसका कोई अस्तित्व न रह जायेगा। ईश्वर से मिल वह संसार को सूना कर देगा। सोचा—मनुष्य को धोखा दो—

मनुष्य ने देखा क्षितिज के करीब एक मन्दिर है। उसकी झलक देख पूजा की भावना जाग उठी। वह चल पड़ा पूजा करने को।

उसने यह न देखा क्षितिज कितना दूर है? चलते चलते उसके पैर दुःख गये। फिर भी वह पहिले जितना ही दूर था।

बादल में घड़घड़ाहट हुई। 'लौट जाओ'—की ध्वनि गूँज उठी। मनुष्य ने समझा पूजा का घंटा है। उसे साहस हुआ। पूजा का समय जान दौड़ पड़ा।

बिजली चमकी। 'लौट जाओ' की ध्वनि फिर हुई। मनुष्य ने समझा—उस अद्वितीय शक्ति की चमक है। वह और तेज चल पड़ा।

और आगे बढ़ा।

आखिर वह जल सागर के किनारे था। आँखों के सामने अथाह जल लहरा रहा था। क्षितिज उतना ही दूर था। उसने आँखें गड़ाईं। चारों तरफ नीलापन हिल रहा था। ऊपर आकाश नीला था, नीचे जल। कितने ही क्षितिज बन और बिगड़ रहे थे। आँखों को कुछ दूर पर रोकना पड़ा। वहीं जल और आकाश मिले थे। मनुष्य ने सोचा इसके पीछे कुछ नहीं है। क्षितिज का मन्दिर उसको नजदीक दीख पड़ा। वह आगे बढ़ा।

पानी में पैर रखा। पीछे उसका लड़का चिल्ला उठा—बापू! मनुष्य पीछे लौट पड़ा और बच्चे को गोद में ले चूम लिया।

फिर दोनों पानी की तरफ बढ़े। क्षितिज उसे और नजदीक दिखलाई पड़ा। उसने फिर देखा, पर वह कुहरा था। कुहरे ने सच्चे क्षितिज को छिपा लिया था। उसने आँखें गड़ाईं। कुहरे का एक तह हटता सा मालूम पड़ा। उसने फिर अपनी आँखों को गहराई तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। आँखें दुख गईं। निराश हो वह लौट पड़ा।

शैतान ने इसे अपनी विजय समझी।

× × × ×

बहुत दिन बीत गये। मनुष्य जीवन प्रवाह में बहता रहा। दूसरे जग की इच्छा बनी रही, पर उसने धोखा ही खाया।

एक दिन संसार की चोट से वह पीड़ित पड़ा था। अपने चारों तरफ लोगों को कराहते देखा। जहाँ तक आँखें गईं माता

पिता, भाई बहन, पत्नी, पुत्र पुत्री, किसी को भी न पाया। मनुष्य निराश हो गया।

एकाएक उसकी आँखें नीले आकाश की तरफ जा लगीं। उसको अनन्त देख ईश्वर की महानता का ज्ञान जाग उठा। वह जग सुन्दर दीख पड़ा। उसमें जाने की पुरानी इच्छा जाग उठी। वह हँस पड़ा।

और मनुष्य जीवन-प्रवाह से निकल चुका था।

मिलन

'सुन्दर हैं ये फूल, राधा !'

'हाँ, पर सबसे ज्यादा किस पुष्प को चाहते हो ?'

'चम्पे को !'

'पर मैं किस चम्पे से कम हूँ, किशुन ?'

'हाँ, गौर वर्ण स्वाभाविक ही है ।'

'इसी से तो काले भौंरे उसके पास नहीं आ सकते, किशुन !'

'पर यदि भौंरा चम्पे से बाँध दिया जाय ?'

'तो वह चम्पे को बींध कर छिन्न भिन्न कर डालेगा और स्वयं मृत्यु के मुख में जा गिरेगा ।'

'फिर मृत्यु के बाद ?'

'राधा किशुन एक हो जायेंगे ।'

'सच ?'

'हाँ !'

'तब हम अबसे ही एक हो जायें ।'

'नहीं ! अभी तुम मेरे शत्रु हो। तुमसे मुझे अपने देश की

रक्षा करनी है। देश के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य होता है।'

× × × ×

उस दिन जब प्रकृति और भी गम्भीर थी, सूर्य्य की उष्णता और भी तीव्र थी, और मनुष्य की सत्ता उस पर इतनी न थी जैसी आज— उस जमाने की बात है। मनुष्य इतना छली न था, उसमें इतना दम्भ न था और वह प्रकृति से इतना दूर न था। मगध के राजा ने काशीराज पर चढ़ाई की थी, पर युद्धस्थल के बाहर दोनों मित्र थे।

× × × ×

'राजकुमारी ! महाराज मारे गये।'

'पिता जी मारे गये !'

'हाँ।'

'अच्छा ! रणभेरी बजी। मैं स्वयं रणभूमि में आती हूँ।'

काशीराज की एकलौती पुत्री ने युद्धभूमि में आँखें उठाईं। तीक्ष्ण दृष्टि दौड़ाई। पर किशुन दिखलाई न पड़ा। राजकुमारी एक आह भरी।

× × × ×

किशुन को गहरी चोट लगी थी। उसे सन्निपात हो गया था। कर्मचारियों ने एक दिन सुना ;राजा कह रहे थे—

उसका नाम राधा था। मैंने उससे सहायता माँगी थी प्रेम करके। उसने कहा था—देश के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य होता है………।'

'लड़ाई बन्द करो'—राजा ने आज्ञा दी।

'युद्ध कभी का बन्द है, राजन्।'

'तो फिर हम कहाँ हैं?'

'काशी के राजप्रासाद में।'

'और राधा कहाँ?'

'कौन राधा, राजन्?'

वह दौड़ा हुआ राजकुमारी के महल की तरफ गया। आतंक का साम्राज्य था। उसमें मगध राजा किशुन "राधा", 'राधा' चिल्लाता हुआ दौड़ रहा था। कर्मचारी साथ थे। एकाएक उसने देखा—द्वार पर 'राधा-किशुन' लिखा हुआ है। 'हम मिल गये हैं, पर राधा अब भी मुझसे दूर है। राधा! राधा!.....'

'कौन राधा?'—कर्मचारियों ने फिर पूछा।

'राजकुमारी।'

'वह तो युद्ध में मारी गई!'

'मारी गई?

'हाँ।'

'उसने कहा था—देश के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य है।—और उसने कर्तव्य को पूरा किया। अब मेरा उसके प्रति कर्तव्य है—वह है मिलन का। हम मिलेंगे, मर कर ही जाता हूँ—'

भाभी

आपको एक कहानी सुनाता हूँ, अपनी ही। कहानी पुरानी है। मेरी एक भाभी थीं। मालूम नहीं वह भाभी अब कहाँ हैं, पर मैं उनसे दूर हूँ—बहुत दिन हुआ दूर हुए। उनसे रुकझक हुई, शायद अनबन हुई और फिर हम एक दूसरे से पता नहीं कब मिलने के लिए बिदा हो गये। कहानी दर्दनाक है। एक रिकार्ड को सुन वह दर्द और भी बढ़ जाता है। इसे याद कर मैं कितने दिन रोया, नहीं जानता। पर दुःखी अब भी हूँ और उसीको भूलने के लिए यह कहानी सुना रहा हूँ। शायद आप मेरा हृदय समझ सकें और मैं भी अपने को समझा पाऊँ—हाँ समझना आसान नहीं, यह भी मैं जानता हूँ।

इस कहानी से एक और नारी का भी सम्बन्ध है, बहुत गहरा सम्बन्ध। उस समय वह बुढ़िया न थीं और न युवती ही। हम उन्हें माता ही कहते थे, पर मैं उनका माता से भी ज्यादा आदर करता था। अब? नहीं जानता।

वह अपने को शायद किसी देवी का अवतार समझती थीं।

यों तो सभी स्त्रियाँ देवी हैं, पर वह सबसे परे थीं। बड़े बाप की बेटी थीं, बहुत कुछ लेकर पति के घर उतरी थीं। उनके सामने सब तुच्छ थे—स्त्रियाँ किसान की बेटी थीं और पुरुष उनसे भी गिरे। पर इसमें बुरा क्या था, मैं अब तक नहीं समझ पाया। यहीं नहीं। वे बुद्धि में भी अपने को बढ़ी चढ़ी समझती थीं। उनको यह अभिमान था कि कोई भी स्त्री, कोई भी पुरुष उनकी दृष्टि से अपना हृदय छिपा नहीं सकता। वे सब को पहिचानती थीं। पर ईश्वर जाने वे कहाँ तक पहिचान पाईं!

और उनके पति इस संसार में शायद सबसे सुन्दर थे। ठीक ही है। पतिव्रता का यही धर्म है—अपने पुरुष को यही स्थान दे। पर दूसरों के सामने यही बात इस तरह कही जाती जिसमें उनका अभिमान टपकता, दूसरे हँस देते पर दुःख भी होता।

केवल इतने तक ही यह सब सीमित रहता तो मुझे यह कहानी कहने का अवसर ही न मिलता। पर उनका तो मन बढ़ता ही जाता; बिना लगाम का घोड़ा रोके नहीं रुकता, और यहाँ तो कभी रोकने का प्रयत्न भी नहीं हुआ। उनके पति उन्हीं की बुद्धि से काम लेते, उन्हीं की बात पर कान देते, पाँव उठाते, और अपनी शक्ति, अहंकार और अधिकार से दूसरों पर रोब जमाते। इन पर भी दूसरे हँस ही देते, शायद जिसे वे समझ न पाते।

कहानी लिखते समय इनकी बहुत सी बातें याद पड़ रही हैं। लिख देता हूँ, शायद समझने में आसानी हो। मुझे वह बहुत प्यार करती थीं, मेरा आदर भी करतीं, तारीफ की पुल भी

बाँधतीं। पर मैंने कभी न सोचा, उस पुल के नीचे सर्वदा पानी की तीव्र धारा चलती रहती। दूसरों के सामने वह पुल टूट जाता। मैं भी उस धारा में बहा दिया जाता, मुझ पर भी कटाक्ष होते, और जिन भाभी की कहानी से इनका सम्बन्ध है इन्हीं से मेरे विषय में कहतीं—तुम्हें भला बुरा कहता है, धोखा देता है, न सुनने लायक बातें कहता है। पता नहीं भाभी को इससे मेरे ऊपर संदेह होता या नहीं, पर ये बातें मुझे उन्हीं से मालूम हुईं। मेरा हृदय काँप जाता, इन बातों को सुनकर नहीं, पर देखकर कि भाभी दुःखी हो इन्हें कह रही हैं। वे बातें क्या थीं, इसे जानने से आपको कोई लाभ नहीं।

और एक दिन एक कहानी सुन ये बहुत हँसी भी थीं, और लोग भी हँसे थे, कहानी कहनेवाला भी।—दो भाइयों का व्याह एक ही घर में हुआ। एक की पत्नी झगड़ीली थी और दूसरे की सुशील। पहिली के पति ने दहेज में एक बकरी भी माँगी। ससुराल वाले इस पर हँसे, अपने घर वालों ने इसपर आश्चर्य किया। रास्ते में ही उसने बकरी का सिर अलग कर दिया—वह चाहता न था कि बकरी बोले, पर वह न मानती। पत्नी डरी—यह तो क्रोधी पति मिला। विचारी भय के कारण ही एक सुशील नारी हो गई। पर दूसरी ने उल्टा रास्ता पकड़ा। उसके पति ने उसका आदर ही नहीं किया, उसके मन को बढ़ावा दिया और घोड़ा विना लगाम का हो गया। पति उसके हाथ में आया और पत्नी दूसरों का दिल दुखाना शुरू किया।—यही कहानी थी।

वे मेरी तरफ देख हँसी थीं—'ऐसा ही होता है !' भाभी भी बहुत प्रसन्न थीं और उनकी दूसरी साथिनें भी। मैं गंभीर बैठा था। क्यों ? यह भी नहीं जानता। पर मैंने देखा था कहानी कहने वाला भी हँसा—शायद यह सोचकर कि किसी ने नहीं समझा यह कहानी किस पर कही गयी है; किसी ने नहीं सोचा कि किस का मन बढ़ाया जा रहा है।

कोई भले न समझें, पर वे तो सबको समझती ही हैं; कितनी ही बार उन्होंने समझा और शायद अब भी समझ ही रही हों !—कुछ भी हो उन्होंने एक तूफान तो लाही दिया, बंधन छिन्न-भिन्न हो गये। हृदय के टुकड़े हुए, एक आफत आ खड़ी हुई। और इसी कारण मुझे यह कहानी कहने का अवसर मिला है।

एक दिन भाभी अपने माँ के घर गई थीं। अपनी वाली माँ जी ने एक कहानी गढ़ी।—वह तो गाँव के मेले में गई। उसके पीछे गुंडे लगे थे। उसने उन्हें बढ़ावा दिया—पुत्र की प्रबल इच्छा हो आई है न ! और यही नहीं। पीतल के ऐरन मेले में गिरा बोली—मेरे ऐरन तो सोने के थे। माँ बिचारी को बनवाना पड़ा।—कहानी आँधी सी फैली। एक कुहराम मच गया। भाभी ने भी सुना—पता नहीं हँसी या रोयीं। मैंने भी सुना इन्हीं माता जी से उन्होंने बतलाया—किसी और स्त्री से सुन रखा है। मैं तो हँसा था, यह सोचकर कि यह माता जी कौन सी देवियों में से हैं ! कौन जाने इनके पति महाशय ने इन बुद्धिमती की गढ़ी कहानी सुनी या नहीं ? सुनी तो पत्नी की पीठ ठोकी थी या नहीं ?

पर यह वार खाली गया। अपनी असफलता पर उन्हें शोक हुआ, पर आदत न छूटी। भाभी की उन्होंने ठकुर सुहाती शुरू की। समझा भाभी उन बातों को भूल गई हैं। वे अब 'माँ' के शब्द पर लट्टू थीं। भाभी को मिला कर रखना चाहा। उस समय मैंने सोचा था, वे भाभी से डरती हैं, पर अब सोचता हूँ—वे डरतीं क्यों? जिसके पास धन है, हाथ में पतिपुत्र हैं, वह डरे क्यों? माताजी ने समझने में फिर भूल किया। सोचा था, भाभी तो सब कुछ भूल गई हैं, उनके हाथों में आना चाहती हैं, पर यह न सोचा कि उनकी बातों को याद कर कहाँ तक हँसा करती थीं। उन्होंने तो यही समझा भाभी चापलूसी पसंद करती हैं। यही पहिचाना!

और फिर उन्होंने मुझे भी तो समझा, अच्छी तरह—कितने वर्षों के अध्ययन के बाद। मैं भी तो हँसता—मुझे क्या समझा?

पर मैं उनके मस्तिष्क से हार मानता हूँ। यदि वे कहानियाँ लिखती होतीं तो खून, हत्या आदि विषयों में पूरी सफलता पातीं। अब उन्होंने एक दूसरी कहानी गढ़ी—पहिली से भी ज्यादा नीचता इसमें भरी पड़ी थी। इसमें वह सफल हुईं। संदेह हो आया। दो हृदयों पर शायद उन्होंने अपनी शक्ति आजमायी। क्यों? यह वही जाने। पर मैं अब भी कहने को तैयार हूँ कि उन्होंने हमें नहीं समझा—हो सकता है मुझे समझ भी गई हों, पर भाभी को नहीं।

भाभी-देवर का सम्बन्ध कितना पवित्र है, इसे समाज जानता

है। माता-पुत्र के से भी यह अधिक पवित्र है, स्वच्छ है। पर माता पुत्र का सम्बन्ध तो सुरक्षित है, भाभी देवर का नहीं। यह पहाड़ की एक ऊँची चोटी पर स्थिर है। नीचे गहरा खड्ढ है; कितना गहरा, कोई भी नहीं जानता। यदि यह सम्बन्ध विचलित हुआ, तो फिर सम्हलना आसान नहीं—खड्ढ में पहुँचने पर फिर पता भी नहीं लग सकता। पता नहीं समाज ने ऐसा सम्बन्ध बनाया ही क्यों? क्या भाभी देवर की शक्ति अजमाने के लिए? हो सकता है। पर जितना ही यह सम्बन्ध पवित्र है, उतना ही चंचल कर देना आसान। एक मानसिक आँधी में पड़ जब कुछ सूझता नहीं, जब आँखें बन्द हो जाती हैं, पाँव डगमगाने लगते हैं, हृदय कराह उठता है, शरीर काँपने लगता है- मनुष्य कैसे न गिरेगा? उसके रास्ते में कोई रुकावट भी तो नहीं!—

वह माता जी इस शक्ति को जानती थीं। उन्होंने अजमाया और सफल हुईं।—

मैंने सुन रखा है और आपने भी सुना ही होगा कि स्त्रियाँ सती सावित्री होती हैं. देवी कहलाती ही हैं। इसी कारण तो मुझे आश्चर्य होता है कि दूसरों पर आक्षेप करते उन्हें शर्म क्यों नहीं आती। दूसरों के सतित्व का शायद उनकी आँखों में कोई मूल्य नहीं। पुरुष स्त्री का सतित्व लूटता है, पर स्त्री भी तो स्त्री का सतित्व लूटने में नहीं हिचकती। उन्होंने भी यही किया।

मुझे अच्छी तरह याद है नारी जाति ने मुझे बार बार नागिन सा डँसा, किसी ने झगड़ा कर, किसी ने डाहकर और

किसी ने प्रेम कर। पर उनमें यह साहस नहीं रहा कि मेरे सामने कुछ कह सकें; पीठ पीछे कौन रोक सकता है। मौका पा डँस ही देतीं। उन माता जी ने मुझसे तो कुछ भी नहीं कहा, भाभी से भी कुछ नहीं कहा, पर उन्हें सुना दूसरों से कुछ न कुछ कहा ही करतीं। और एक दिन सबके मुँह से सुना गया हमारा सम्बन्ध अच्छा नहीं। सच ? इसी प्रश्न ने तो तूफान ला खड़ा किया।

इसमें दोष किसका है ? मैं नहीं जानता। पर हमारे मन में संदेह अवश्य हो आया—क्या सम्बन्ध पवित्र है ? उत्तर मिलता —'हाँ' 'नहीं' ! शायद हमारा मन साफ नहीं रह गया था, उसे स्वच्छ बनाने के लिए प्रयत्न करना पड़ रहा था।

पहिले तो किसी ने भी इस पर ध्यान नहीं दिया। भाभी को ही मैं देखता—सुनकर हँसा करतीं। पर बार बार चोट किया जाता। संदेह का तार बार बार झंकार करते करते एक ऊँची राग सुनाने लगा। उस रिकार्ड ने, जिसे सुन अब भी मुझे दुःख हो आता है, विष का काम किया। सब लोग बैठे रहते। रिकार्ड पर सूई लगती और वह चिल्ला पड़ता—

'मन साफ तेरा है या नहीं पूछ ले जी से,'

वह माँ कहतीं—अपना हृदय तो तुम देख लो। मैं उनके कहने के पहिले ही हृदय टटोलता। 'हाँ' और 'ना'—दोनों मिलते। किसे मैं सत्य मानू ? तब तक रिकार्ड बोल जाता—

'फिर जो कुछ भी करना है कर वह खुशी से'—एक आशा

सी बँध जाती। हृदय पर हाथ जाता। शायद 'हाँ' की ही तो आवाज़ निकल रही है ? सूई आगे बढ़ती—

'घबरा न किसी से—'

मैं हँसता। पर फिर—

'मन साफ तेरा है या नहीं पूछ ले जी से—

और फिर वही संदेह। मुझे मालूम न होता सूई कहाँ गई। उन माता जी की तरफ देखता—एक प्रश्नसूचक हँसी दीख पड़ती। दूसरी तरफ भाभी पर आँखें जातीं और रिकार्ड बोल उठता—

'सच्चे नहीं डरते हैं जमाने में किसी से—'

और मैं देखता भाभी हँस रही हैं, मुंह पर एक अजीब तेज खेल रहा है। गानेवाली भी झुंझलाहट में चिल्ला उठती—

'पूछ ले जी से, पूछ ले जी से·········

मेरी प्रश्नसूचक दृष्टि उठती, गर्व के साथ। वह बोलती—मैं पहिचानती हूँ। मैं हँस देता—अब मैं इतना सीधा नहीं रहा, माताजी ! और रिकार्ड भी खट् कर रुक जाता।

—यहीं मनुष्य हृदय पर भी कुछ कह दूँ। ऐसी बौछारों से पुरुष का हृदय दुख जाता है, पर वह सोचता है, क्या वह स्त्री मुझे चाहती है ? पर स्त्री यह प्रश्न नहीं करती। वह स्वयं सोचती है—मैं उसे चाहती हूँ ? पुरुष अपनी पत्नी को भूल जाता है, पर स्त्री पूछती है—अपने पति को नहीं ? और शीघ्र ही उसका सन्देह बढ़ने लगता है—उसको चाहती हूँ ? और फिर वह सोचती है—वह सुन्दर है......! हैं ? यह क्या ? वह सहम

जाती है—यह तुलना क्यों ? क्या सचमुच वह चाहती है ? 'हाँ !'—एक आवाज आती है। तभी तो सब ऐसा कह रहे हैं। वे झूठ क्यों बोलेंगे ? पर नहीं ! उसका पति है ? इससे क्या ? ......और यदि वह अस्थिर चित्त हुई तो इसमें उसकी हार होती है। यही सोचते सोचते वह उसे चाहने भी लगती है। और फिर पुरुष को अवसर मिलता है। उसकी तरफ से थोड़ा सा भी संकेत पा वह सब कुछ भूल जाता है। उसको एक आश्चर्य होता है, अनुभूति से उपजा आश्चर्य। धीरे धीरे सहमा हुआ, सोचता चकित सा वह पाँव उठाता है और फिर दोनों रसातल की तरफ बढ़ने लगते हैं।

मुझे मालूम पड़ा भाभी में भी कुछ ऐसा ही द्वन्द चल रहा है। देखता, कभी उनके मुख पर तेज आ जाता और कभी वे स्याह पड़ जाती हैं। दिन दिन यह द्वन्द बढ़ता ही देखा। एक स्वच्छ संबन्ध कलंक की तरफ बढ़ा जा रहा है—इसमें कोई सन्देह न था। और न मेरे आश्चर्य का ठिकाना। इसका अन्त क्या होगा ? मैंने निश्चय कर लिया घर छोड़ना ही होगा।

रिकार्ड अब भी बजता। माताजी अब भी अपना वार करती ही जातीं। भाभी हार की तरफ बढ़ती जातीं, पर मुझमें अभी कुछ शक्ति बाकी थी। अभी कोई संकेत न पा सका था न ! हक बकाया सा भाभी के पास पहुँचा। भाभी की दृष्टि पड़ी और फिर नीची ही गई। सारा बदन काँप उठा। सम्हलना कठिन दीख पड़ा। अनायास ही बोल उठा—भाभी मैं जा रहा हूँ।

उनकी आँखें फिर आ लगीं। अब भी उनसे कमजोरी थी। पूछा—'कहाँ?'

'न जाने!'—मैं बोला।

और मैंने देखा भाभी की दृष्टि फिर जमीन से जा लगी। उन माताजी का दिया विष होठों से लग चुका था। मैं चुप लौट पड़ा।

'सुनो तो!'—भाभी बोलीं और मैंने दृष्टि उठायी।

वे हँस रही थीं—'यों ही चले जा रहे हो?'

'हाँ! लोगों की आँखों से हमें बचना है!—मैं बोला।

'बचना?' उन्हें आश्चर्य हुआ। फिर क्या हमने कोई पाप किया है?'—वे स्वयं उलझ पड़ीं। और फिर हँसी—'नहीं! यह तो अपनी कमजोरी ही लोगों को दिखलाना है। शायद तुम्हारा मन साफ नहीं!'

मेरा मन?—मैंने सोचा। मैं ही इतना उलझा हुआ हूँ? बोला—'नहीं भाभी! हमें अलग होना ही पड़ेगा।'

शायद भाभी अब अपना हृदय जीत चुकी थीं।—'नहीं! जाने से तो लोगों का संदेह सत्य का रूप ले लेगा। और विष प्याला भरेगा ही। उसी को तोड़ दूँ!'

'पर हम साथ रह अपने को सम्हाल सकेंगे, भाभी?'—और मैं उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही लौट पड़ा।

और मैंने सुना, भाभी ने उन माता जी से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया। होठों की तरफ बढ़ाये हुए विष के प्याले को ले पटक

दिया। प्याला चकनाचूर हो गया। विष चारों तरफ फैल गया। भाभी ने यह न सोचा उन्होंने जहर का प्याला गिरा, अपने हृदय में ही जहर घोल लिया।

विष की तरह ही उठती अनुभूति ने अपना असर दिखलाया। अंग अंग उसकी मरोड़ में आने लगे। हमारी आँखों के सामने अँधेरा हो आया। पैर डगमगाने लगे। सिर चक्कर काटने लगा। संदेह न था—विष भिन चुका है।

सोचते सोचते विकार उत्पन्न हो ही गया। चोर अपना मुंह नहीं छिपा सकता—लोगों की दबी दृष्टि यही बतलाती।

रिकार्ड अब भी बजा करता। पर हमारे लिए उसका अर्थ बदल गया था।

और भाभी को देखता—कभी हँसतीं, कभी घबरा उठतीं। एक पापी प्रेमी की आत्मा की तरह उनकी आत्मा दुख पाने लगी। पूछतीं—'मैं प्रेम करती हूँ?'—'हाँ!' चारों तरफ से आवाज आती। वे हँसतीं। और मैं फिर सुनता—'उस प्रेम में काम है?'—फिर जैसे उत्तर मिलता—'हाँ' भाभी चिल्ला उठतीं—'नहीं, नहीं,' और अनायास ही उनकी अंगुलियाँ कानों में चली जातीं।

और मुझे सूझ पड़ा—भाभी हार मान गई हैं। आश्चर्य हुआ। पग यों ही आगे बढ़ा, बढ़ता गया। मुझे यह नहीं मालूम था—वह अब अपना हृदय पत्थर का बना चुकी हैं, उसमें संदेह नहीं, मोह नहीं। मैंने हाथ बढ़ाया। उन्होंने स्वीकार किया—हँसकर।

कामाग्नि ने भयंकर रूप धारण किया। मैं जलन सह न सका। एक दिन भाभी का हाथ पकड़ लिया। कितनी ही बार उनका यही हाथ, हाथ में ले चुका था। पर अबकी तो अर्थ कुछ और ही रहा। उनका हाथ जल गया। एक सिहरन दौड़ गई। पर उन्होंने हाथ नहीं छुड़ाया। स्वयं झगड़ीं और हँसती रहीं।

इतना ही संकेत मेरे लिए कम न था। अपना मन खोल रख दिया। भाभी केवल हंसीं।

और दूसरे दिन मैंने सुना, वे अपने भाई के घर चली गई हैं। क्यों? उस दिन मैंने यह न सोचा कि वे हमें बचाने के लिए ही अलग हुई हैं। उनका हृदय भी चंचल हो चुका था। कोई रुकावट न रह गई थी। अलग होना ही एक रास्ता था। और मैं तो अपने आपे में न था। सोचा—विष घोल अब वे मुझसे भग रही हैं।

एक दिन मैं उनके भाई के घर जा पहुँचा। भाई की ससुराल में आदर ही हुआ।

कोई देख नहीं कह सकता था कि भाभी का चित्त चंचल है। पर मैं उदास था। कारण दूसरों को क्या मालूम। भाभी की छोटी बहन बोली—हँसते क्यों नहीं जीजा जी? और मैं हँस पड़ा, एक रूखी हँसी।

ग्रामोफोन सामने ला रख दिया। पूछा—कौन सा रिकार्ड बजा, जीजाऊ?

'कोई भी—' मैंने कहा।

'मन साफ......?'—उसने पूछा।

'नहीं, वह तो अच्छा नहीं !'—मैंने भाभी की तरफ देखा। वे हँस रही थीं। मैंने आँखें फेर लीं।

वे बोलीं—'फिर जाने दे, क्यों उसे बजाना चाहती है।'

'नहीं—बहन !'—और वह उदास हो गई।

मैं बोला—'अच्छा, तेरा मन !'

रिकार्ड बजने लगा। दोनों की आँखें नीचे लगी थीं। भाभी की बहन ने पूछा—'आपका मन कैसा होता जा रहा है ?'

मैंने हँसने का प्रयत्न किया—'अच्छा नहीं है !'

तब तक सूई आगे बढ़ चुकी थी। रिकार्ड बोल रहा था—

"शर्बत के धोखे में जो तुझे जहर पिलाये......'

भाभी की आँखों ने जैसे पूछा—तैयार हो ? और मेरी आँखों ने बतलाया, हाँ !' उनके होठों पर अब भी हँसी थी। सूई बढ़ी—

"ले जाना जो चाहे तुझे काँटों की गली से..." और मेरे हृदय ने कहा—मैं तैयार हूँ। पर रिकार्ड और आगे बढ़ा—

"तू लोगों की आँखों में बला हो तो बला हो,
अच्छी वह बुराई है जो दुनिया का भला हो,
कटता है गला तेरा—
कटता है गला तेरा गर कुन्द छुरी से......
फिर जो कुछ भी......"

और भाभी की आँखों ने बतलाया—तुम्हें तो इसके लिए

तैयार होना था। मुझे गहरी चोट लगी। पर आगे सोचने का समय न मिला। सूई बढ़ी।

"जिस काम से तू जिंदा सुबह शाम रहेगा,

कर तू तो नहीं तेरा सदा नाम रहेगा..."

किसके लिए? कौन वह नाम लेगा?

भाभी के मुख पर निर्मल हँसी खिल रही थी। मुझे ध्यान न रहा, गानेवाला चिल्ला रहा है—

"पूछ ले जी से, पूछ ले जी से......'

और मैंने कहा—'भाभी विदा दो!—देखा, मेरी आवाज काँप रही थी। भाभी घबरा उठीं।

'पर एक बात कह दूं?'—मैंने पूछा।

'वह क्या।—उनकी आँखों ने प्रश्न किया।

'यही, कि स्त्रियाँ सर्पिणी हैं। अपनी गेंगुरी में मनुष्य को ला, भले ही वह स्त्री क्यों न हो, विना उसे छोड़ती नहीं। बच जाय; उसका भाग्य। कितना भयंकर! जिसे पैदा करती हैं उसे ही खाने को तैयार!! उनकी फुफकार उठती है—उसकी आँच किसे नहीं लगती। यही नहीं। मौका देख वे सिमट भी जाती हैं। और अनायास ही कहीं पैर पड़ा तो वह गया। डँसती हैं; कुचल भी जाती हैं......

भाभी गंभीर हो पड़ीं—सब?

मैं चुप था।

वे हँस पड़ीं—तुम्हें सबने डँसा है......बाबू ? पर उनकी आँखों से तो आँसू टपकने लगा था।

'जब तुमने संकेत किया था भाभी, सारे शरीर में विष घोल दिया था—' मैं अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाया था।

वे हँस पड़ीं, जोर से। आँखों से आँसू भी टप टप चू रहे थे—'बस, इतने ही से घबरा गये, तुम ?'—उन्हें जैसे आश्चर्य हुआ।

मैं चुप था।

उन्होंने फिर पूछा—'क्या अबतक नहीं समझा था...... ...बाबू ?

मैं फिर भी चुप रहा।

'अपने भाई का भी तो कुछ ख्याल रखते' !—अबकी उनकी आवाज भी रुहाँसी हो आई थी। देखा—झर झर झर आँसू गिर रहे थे, भाभी को। मैं चुप उठा और चल पड़ा। घूमकर देखा भी नहीं। सुना—उनकी बहन ने पूछा था—'जीजाजी कहाँ जा रहे हैं, बहन ?'

फिर एक भर्राई आवाज सुन पड़ी—'बहन......' पर मैंने मुड़कर न देखा।

इसी से मैं कहता हूँ किसी को समझाना आसान नहीं। जब कभी उनके माताजी से मिलूँगा, यही कहूँगा—कम से कम भाभी को तुमने नहीं पहिचाना, माताजी !

वेश्या-हृदय

आपको एक मित्र की कहानी सुनाता हूँ। हो सकता है उससे आप भी परिचित हों, पर उसके नाम से आपको कोई लाभ नहीं। हाँ, उसका रूप बतला देता हूँ—शायद कहीं मिल सके और आप पहिचान भी सकें; शायद आपको वह कुछ और भी बतला सके।

लम्बा, दोहरे बदन का वह युवक था। बीस बाइस की अवस्था। स्त्री-समाज उसे सुन्दर कहता था। घुँघराले, भूरे, रेशम से चिकने, चमकीले बाल, भरा मुख, ऊँचा, चौड़ा ललाट जिस पर एक मुर्झाया तेज था, घनी, काली भौंहें, पतली, लम्बी पर छोटी छोटी आँखें जिनमें एक अपना ही सौन्दर्य था, पानी था आँसू नहीं, और पुतलियों के आसपास लाल लाल डोरियाँ उन्हें मद से भरा दिखलाती थीं, रसीली बनाती थीं, होठों पर एक हल्की थिरकती हँसी,—सौम्य मुख था इसीसे स्त्रियाँ उसे सुन्दर कहती थीं। अपना बनाने, अपना अधिकार जगाने में अहोभाग्य समझती थीं। और पुरुष उसमें एक शक्ति पाते थे।—किसी भार

से दबी उसकी आँखें, विशाल बाहु, चौड़ा वक्ष, गम्भीर मुख जिसपर दबी हँसी खेला करती थी—सभी में आत्म-विश्वास झलकता, शक्ति दीखती थी।

पर उसके हृदय में दुःख था जिसकी छाया उसके मुख पर थी। उसे सब नहीं देख पाते थे—छाया धुँधली थी।

युवक दुनियाँ से घबरा उठा था। सम्बन्ध को उसने बुरा समझा था—उतना ही बुरा जितना तूफान, आँधी और यह दुनियाँ। सम्बन्ध न करना ही वह अच्छा समझता, समझने में भूल होती है समझना कठिन होता है। मन भी कितनों का पूरा किया जाय! अपरिचित का साथ ही उसे ठीक जान पड़ता था।

उसे लोगों ने निर्दय भी पाया था। वसन्त के आम्र बौर में, कोयल की कूक में, सावन के उमड़-घुमड़ बादल में, गुदगुदी उठानेवाली गीत में—उसे कुछ भी न मिलता। वह अपने जीवन को रसमय बनाना चाहता, पर बना न पाता; उसे वही रोज की दुनियाँ दीख पड़ती। यही नहीं। न किसी की मृत्यु पर वह आँसू बहाता, न किसी के दुःख से दुःखी होता। आँसू निकलते पर बाहर नहीं—एक रूखी हँसी में सूख जाते।

ऐसा था वह युवक। उसे सभी से— माता-पिता, भाई-बन्धु, भाभी-पत्नी। धन भी था, विद्या भी थी, बुद्धि भी। पर वह कभी भी न जान पाया—उससे लोग क्या चाहते हैं? औरों से भी वह क्या चाहता है?—उसके मन में यही प्रश्न रहता। पहेली कभी भी न सुलझती।

एक दिन वही युवक, दुनिया से उकता, दुःखी हो, मनबहलाव के लिए रूप की हाट में जा पड़ा। क्या जानता था, मनबहलाव केवल मनबहलाव नहीं। रूपसियों का पान खिलवाड़ नहीं। रूप की हाट में प्यास कभी बुझती नहीं, बढ़ती ही है। अब भी उसने भूल की।

पर वह रूप का बेकस न था। सब कुछ सुन चुका था; कभी देखने को सोच भी चुका था।

वह चलता ही जा रहा था। सुना—'मुर्गदिल मत रो यहाँ आँसू बहाना है मना।' उसने जानने की भी कोशिश न की, वह मुर्गदिल तो नहीं, उसके हृदय में कोई बेकली भी नहीं। फिर उसने एक पग बढ़ाया, दूसरा सीढ़ी पर रखा और चढ़ता गया, चढ़ता गया।

सामने एक सजा हुआ कमरा था—दूध सी फैली चादर, इधर उधर दो चार मसनद, बीच में एक जरी का काम किया हुआ कालीन! उस पर एक बीस बाइस के वयस की युवती—होठों पर हल्की हँसी, अंग में मरोड़। 'आइये' 'तशरीफ रखिये!'—की आवाज से वह चौंक पड़ा था।......

फिर वह आता—प्रतिदिन आता।

वेश्या ने भी उसमें कुछ और ही पाया। देखा—वह दुःखी है; उसमें संकोच है, शील है।

पर उसने वेश्या से सम्बन्ध न किया। वह सम्बन्ध चाहती थी।

वेश्या रूप में एक थी। उसे गर्व था, कोई भी पुरुष उसके यहाँ आ निकल नहीं सकता। पर वह दुःखी युवक गाने का केवल आशिक बन बैठा था। यों ही उसके यहाँ जाता, दो चार गाने सुनता और लौट आता। रूपसी के हाव-भाव व्यर्थ जाते। उसे तैश आता, पर अधिकार जमाने में वह असफल ही रही। युवक कहता—गाने के लिये यह रुपया। वह कहती—केवल गाना ही तो उसका पेशा नहीं। वह पूछता—फिर?—'नहीं समझे!'—और युवक हँस देता।

वह और भी झुकती गई। एक दिन पूछा—'तुम्हारे पास हृदय है?'

'हाँ!'

'दे सकोगे?'

'क्यों?'

'यों ही!'—और वह हँसने लगी।

युवक सोचता रहा—'नहीं, तुम उसे समझ न पाओगी।'

'कैसे?'

'हमेशा एक सा वह न रहेगा।'—वह दुःखी हो बोला।

'फिर मैं रुपया क्या करूँगी!'

—युवक हँसता रहा।

वेश्या और भी झुकी, पर वह उसे दूर ही हटाता। बोला—तुम अपना व्यापार करो। हृदय और प्रेम ले क्या करोगी। इनसे लाभ? क्षणिक जवानी ही देख सौन्दर्य का भास होता है।

जबतक इसका टीस रहता है मनुष्य प्रेमी है। उसके मिटते ही उसकी स्मरणशक्ति भी चली जाती है। फिर कहाँ वह सम्बन्ध और कहाँ प्रेम !'

'फिर मुझे रखने का साहस तुममें नहीं ?'—वेश्या ने पूछा।

'साहस है, पर उससे तुम्हारा भला न होगा।'—युवक ने कहा।—'तुम सेवा करना चाहती हो, पर उसका अधिकार तुम्हें कहाँ !'

'क्यों ? कैसे नहीं है ! मैं तो पूजा करना चाहती हूँ।'

युवक हँसा था—'यह तो पेट पर केवल एक क्षणिक विजय है।'

'फिर स्त्री को समझने में आपने भूल की'—

'भूल नहीं ! सेवा तुम न कर पाओगी। वह तो माता के लिये है।'—उस युवक ने कहा।

'तो मुझे माता बनाओ।'

युवक हँसा—'नहीं, तुम पुत्र को भी एक दिन पति समझ सकती हो।'

दुःखी वेश्या आँसू बहा कर रह गई।

फिर भी वह उसे भूल न सकी और युवक भी उसके यहाँ आता ही रहा।

एक दिन वह यों ही अन्यमनस्क बैठी थी। स्वयं बोल उठी—'पुरुष जन्म लेता है कर्म करने के लिए ही? केवल स्त्री जन्म

लेती है जन्म देने के लिए !'......और फिर—'पर पेड़ भी तो छाया के लिए नहीं, वह फलने के लिए है—भले ही उसके फल का उपयोग मनुष्य करे या न करे ।'

रूखी हँसी युवक के होठों पर आ गई थी ।—'उस फल से लाभ ?'—उसने पूछा ।

वेश्या भी न सह सकी—'तुम पशु हो, मनुष्य नहीं ।'

'मनुष्य भी पशु की ही सन्तान है'—उसमें उसे कोई झिझक नहीं ।—'पशु-जीवन भी तुमसे अलग नहीं !'

वेश्या को उपहास सूझा । बोली—'पशु भी तुमसे अच्छा ही है । वह भी तो देखता है—उसके आगे एक मादा है । उसमें सृष्टि करने की शक्ति है, वह सृष्टि करना चाहती भी है । यही खिंचाव उसके लिए बहुत है—सौन्दर्य और प्रेम को वह भले न पूछता हो । पर तुम तो किसी—'

युवक ने बात काट दी और कहा—'फिर सृष्टि में विश्वास करनेवाली स्त्री वेश्या क्यों हो जाती है' ?

वेश्या चुप हो गई ।

और फिर वह वेश्या ही बनी रही । विजय की लालसा उसमें फिर जग पड़ी । उसका भाग्य—एक दूसरे युवक ने उसे सहारा दिया । वह धनी था, धन लुटा सकता था । वेश्या का वह भी आशिक बन बैठा । और वेश्या भी दोनों में रश्क पैदा कर देना चाहती थी । उसने दूसरे युवक का साथ दिया । पहिले को चोट लगी और पानी की तरह वह अपना धन बहाने लगा ।

रुपया देकर वह समझता उसपर अधिकार बनाये रहेगा। पर उसने भूल की। आखिर उसने एक दिन अधिकार दिखलाया। बोला—"तुम उसे पास न आने दो।'

'क्यों?'—वेश्या ने पूछा।

'तुम्हें रुपया चाहिये—मुझसे लो।'

'पर केवल रुपया ही तो नहीं चाहिये। स्त्री कुछ और चाहती है।'

युवक ने पूछा—'क्या?'

वेश्या अपना हृदय दबाते हुए—'छोड़ो इन बातों को। मुझे अपना भी तो सुख देखना है—यह तो मेरा व्यापार है। और तुम्हें ईर्ष्या क्यों? सौन्दर्य इसीलिए तो है। वह एक फूल है—फूल मुर्झा जायगा। भौंरों को आने से क्यों रोका जाय, केवल एक माली को ही इसके उपयोग का अधिकार क्यों रहे? स्वच्छन्द हवा भी तो पूरी दुनियाँ देख सकती है। सौन्दर्य पर भी किसी एक का अधिकार नहीं। हृदय पर हो सकता है—पर वह मेरे पास कहाँ!' और फिर वह दुःखी हो यों ही बोल पड़ी थी—'पर यह किसे मालूम फूल हँस हँसकर भौंरों को बुलाता है या भगाता है, भौंरे तो आकर बैठते ही हैं। कौन जाने फूल को सुख होता है या दुःख—पर भौंरे तो उसमें छेद कर ही देते हैं।'—और युवक ने देखा, उसकी आँखों में आँसू भर आये थे।

यों ही कुछ दिन और बीता। दोनों के रुपये निकलते गये। और एक दिन वह युवक ग़रीब बन गया। उसके पास एक पैसा

न बचा। वेश्या से उसने अपना दुःख रोया—अब तो उसके कुटुम्बी एक पैसा न दे सकेंगे। वेश्या ने भी सहानुभूति दिखलाई। पर वह कर क्या सकती थी! उसे तो अपना व्यापार चलाना था!

युवक ने भी ईर्ष्या भूल जाना चाहा, रश्क को मिटा देना चाहा, पर वह असफल रहा। अबतक उसने काम को फटकने न दिया था, सम्बन्ध को बुरा समझा था। पर अब तो उसके पास रुपया भी न रह गया था। कैसे उसपर अधिकार रखे? आखिर उसने पूछा—'फिर मैं जाऊँ? मेरी कोई पूछ नही?'

वेश्या हँसी।

'तुम्हें अब क्या दूँ?'—युवक पागल हो उठा था।

'नहीं जानते—स्त्री पुरुष से क्या चाहती है!'

और युवक अपने को सम्हाल न सका। गहरे आलिंगन में बाँध उसके होठों पर एक छाप दे बैठा।

वेश्या अपने विजय पर मुस्कराई।

'अब?'—उसने फिर पूछा।

और वेश्या उसका मुख देखती रही।

युवक अधिकार बनाये रखना चाहता था। विवाह की इच्छा प्रकट की।

वेश्या की आँखों में अमानुषी हँसी नृत्य कर उठी—'नहीं' —उसके होंठ काँपे और फिर सम्हल गये।—'इससे आपकी इज्जत घटेगी। समाज के बन्धन आप न तोड़ सकेंगे। और मैं

अपने हृदय का उपहास कराना नहीं चाहती। प्रेम-वियोग में जलकर मर जाऊँ, पर समाज के थपेड़े न सह सकूंगी। मेरा तो जन्म उसे थपेड़े देने के लिए हुआ है!'

युवक भी क्रूर बन बैठा था—'बस? हृदय भी चाहती थी, तो केवल इतना ही?'

और वेश्या के होठों पर हँसी थिरकती रही।

पर युवक के रोम रोम काँप उठे थे। बोला—'तुम सब कुछ लेकर केवल एक वस्तु दे सकती हो। तुम वेश्या हो।'

'हाँ, पर वहीं तक जहाँ तक पैसे का व्यापार है'—

युवक ने भी उसकी तरफ एक गहरी दृष्टि डाली। वेश्या के होठों पर अब भी वही हँसी थी, पर आँसू की दो एक बूँद भी चमक रही थीं। युवक ने कहा—'तुम्हारे पास हृदय है, तुम नारी हो, पर वेश्या भी।'—और फिर सीढ़ी की तरफ मुड़ा।

वेश्या ने भी केवल हँस दिया।—

पति-पत्नी

उसके पति एक दिन बहुत सुशील समझे जाते थे। उनके हृदय में न कोई छल था, न ईर्ष्या थी, न अहंकार। घर में आदर था, बाहर मान था। बड़ों की आशा उनमें टिकी थी, वे उनके अभिमान थे पर रस्सी के निशान पत्थर पर पड़ते हैं, बातों के निशान हृदय पर लगते हैं। लोगों का हृदय बदला और आज वे लोगों के लिए कुछ और हैं।

इसका एक कारण है। एक दिन उनका भी विवाह हुआ। पत्नी घर आई। उन्होंने सुना वह सुन्दर है। एक संतोष हुआ, देखने की उत्सुकता जगी।

वर्ष बीता। अब भी वे वैसे ही थे। पर कहीं कहीं एक दो शब्द उनके कानों में पड़ जाते—अब वह औरों का आदर क्यों करेगा। उन्होंने इन बातों पर ध्यान भी न दिया।

पर एक चोट उनके दिल पर लगी थी। उनकी पत्नी दुःखी थी। कारण नहीं जानते थे। केवल यों ही ख्याल हो उठा था—शायद वह किसी को साथिनी न बना सकेगी। अकेली रहती,

दिनभर काम करती, रात को अकेली सोती। न उसे भूत का डर था, न प्रेत का। लोग डराते, वह हँसती। एक कमी उसमें और थी। कड़ी बातों के सहने की शक्ति उसमें न थी। आँखों से आँसू ढरकते, साथ ही बातों से वह अपना पक्ष मजबूत करती। लोगों को यह बुरा लगता, वह कुलीन घर की लड़की न समझी जाती।

फिर भी उन लोगों की सम्बन्धी ही थी। सासु उसे सब तरह से भुलाना चाहती, नन्दें उसे हँसाना चाहतीं, बड़ी बहनें उसका साथ रखतीं। नारी का कर्तव्य वह पूरा करती—काम कर, पूजा कर, सेवा कर। पर वह प्रसन्न न हो सकी। कोई बात खटक कर रह जाती। सोचती—उसका क्या दोष है? उसने कौन सा पाप किया है? स्त्री का जीवन यही है!

उस दिन उन्होंने देखा था चूल्हा धक धक कर जल रहा था और वह बैठी कुछ सोच रही थी। गोला सा भरा हुआ चेहरा जिसपर कोमलता थी, एक चिकनाहट थी—कृत्रिम नहीं, उसमें रस था। अग्नि-प्रकाश के सामने चेहरा कुछ चमक उठता, गोरा रंग कुछ खिल जाता। अनायास ही आँखों की पलकें उठीं, दो छिपे श्वेत कमल दीख पड़े और फिर ढक गये। उनके शरीर में कुछ स्फुरण सा हुआ, एक सिहरन हुई, होठों पर एक हँसी आ गई। चौड़ी पलकें कितनी ही बार उठीं और गिरीं। पर उनका ध्यान खिंचा। देखा—साड़ी का एक छोर जल रहा है। बुझाने को बढ़े। उसने भी देखा, उसकी साड़ी सुलग रही है। वह हँसी—जल

रहीहै; जलने दो। वे अवाक् हो गये, पग आगे न बढ़े। पर फिर कुछ सोच, पत्नी ने उसे मसल दिया और कुछ बोली, कुछ अस्फुट शब्द सुन पड़े—आज उनको भी देख लूँ! वे लौटने लगे। आँखें भीग गई थीं।

और उसी दिन सुहाग की पहली रात थी। एक छोटे से कमरे में तेल का दीपक टिमटिमा रहा था। कभी बुझता सा दीख पड़ता, कभी लव तेज हो जाती। 'दीपक बुझ जायगा'—उनके मुह से यों ही निकला। वह आगे बढ़ी, ऊँगली से बत्ती बढ़ाया, लव ऊँची हो उठी और वह फिर पति की तरफ लौट पड़ी। एक पग, दो पग—संकोच ने आगे न बढ़ने दिया। वे हँसे—'अँधेरे में यह संकोच न रहता।' वह फिर बढ़ी—एक पग, दो पग। पति ने हाथ पकड़ा। वे सिहर उठे। पत्नी काँपने लगी। फिर दोनों चुप थे। अचानक उनके हाथ पर आँसू की गरम बूँद पड़ी। कुछ आश्चर्य, कुछ उत्सुकता ले वे उठे; भोली पत्नी मुस्कराने लगी।

रात बीतने को आई। पति ने कहा—'हम अपरिचित थे।' पत्नी भी बोली—'हाँ. इस जन्म में, पर अब परिचित हो गये।' 'कैसे?'—उन्होंने पूछा—'अब मैं जी सकूँगी।'

दोनों अलग हुए। पति भी विदा हुआ। उसके हृदय में प्रश्न था, कुछ क्षोभ, कुछ कष्ट।

दो वर्ष बाद। पति के हृदय में नये नये प्रश्न उठते। कोई उनका उत्तर न दे पाता, अपनी आत्मा भी इसमें असमर्थ रहती।

२

न किसी तरह उनका क्षोभ दूर हो सका था, न कष्ट। पत्नी उन्हें आशा बंधाती, भाभी उन्हें दिलासा देती, माँ आँसू के दो बूँद गिराती, और दूसरे उनकी बातें सुनने को उत्सुक रहते। अब भी वे सबके लिए अच्छे थे, सभी मान करते, दुलार करते।

उस रात भी दोनों ने हृदय खोला। पति बार बार पूछ चुके थे—जैसे उनका संशय दूर ही न होता—फिर भी पूछा, कितनी ही बार पूछा—'मुझे प्यार करती हो?'

'ऊँह'—वह करवट ले लेती।

सुडौल गोल बाँहों पर हाथ जाता। बड़ी आँखें उनकी तरफ देखने लगतीं, टकटकी लगाये, दुःखती सी न मालूम पड़तीं। नींद के न रहते भी उनींदी रहती। एक कँपकपी फैल जाती, सिहरन सी हो आती। 'तुम मुझे कितना प्यार करती हो?'—वे दुहराते।

वह हँसती—'बस?'

'मुझे तुम चाहती हो'—

'नहीं!'

'नहीं?'

'हूँ!'

'कितना?'

'ऊहूँ!'

और फिर दोनों भूल जाते।

रात का अन्तिम पहर आ पहुँचा। वे कुछ गंभीर हो बोले—

'माता को दुःख न देना।' वह सुनती रही। उनकी आँखें छत से लगी थीं, होंठ हिल रहे थे—'ऐसी माँ भाग्य से मिलती है। बहुत सी मातायें मैंने देखो हैं, पर ऐसी माँ न देख पाया। एक कड़ी बात, एक छोटी सी उलाहना उसकी आँखों को भर सकते हैं। दूसरों के दुःख उसे आर्द्र बना देते हैं। जो उसको विष देने को तैयार रहते हैं, मक्खी सा वींधा करते हैं उनकी भी सेवा के लिए उसका आँचल फैला रहता है। पुत्र को पुत्र सा मानती है, दूसरों के पुत्र भी पुत्र से कम नहीं—सबको एक ही दूध पिलाती है। किसी का दोष भो कहने में संकोच नहीं करती, पर न हृदय में छल है, न कपट।'—उनकी आँखें भीग आई थीं।—'फिर भी उसका कोई आदर नहीं, कुछ दूध को विप समझने में भी नहीं हिचकते—डरते हैं, कहीं विष से उनके स्वजन अकाल मृत्यु न पा जायँ!'—वह सुनती रही।—पर इनका भी तुम बुरा न चाहना; सहना, उनकी बातों का ख्याल न करना। आपत्ति आती और चली जाती है!'

'और भाभी भी मेरे लिए माँ से कम नहीं। दुःख है वह तुम्हारी साथिनी न हो सकीं। पर मैं उन्हें अपने जीवन में एक स्थान दे चुका हूँ। ऐसा न करना कभी तुम्हारे कारण वे मेरी तरफ से धारणा बदल दें।'

वह चुप हो गये। पत्नी ने पूछा—'बस?' फिर उनकी दृष्टि उसकी आँखों पर जा अटकी। कोई प्रकाश तीर-सा हृदय में चुभ गया; उसे निकालने का कभी भी कोई रास्ता न मिला। एक आँख

में युवती का यौवन था, दूसरी में करुणा। इनकी ही याद ले उस दिन वे विदा हुए थे।

कुछ दिन उनका हृदय शान्त रहा उन्होंने अपना कर्तव्य कर लिया है। कुछ और दिन बीते—साल बीत चला था।

उन्हें संतोष था—उसमें कुछ सहनशीलता बढ़ गई है, पहिले के अभाव भर चले हैं। उसके हृदय में एक छोटी सी बात पर आग जल जाया करती थी, लपट बाहर तक आती। पर अब वह आग भीतर ही सुलगकर बुझ जाती है। जो पहिले उससे बोलना भी पाप समझते थे, न बोलने की शपथ तक खा लेते थे, वे ही अब हँसते, खेलते मिलते थे। किसी की वह बहन थी, किसी की बेटी।

एक रात वे फिर मिले। पर अबकी पहिली बार वह एक संदेह ले आई थी। कहीं कुछ बातें सुन रखा था—कुछ पीहर में, कुछ पति के घर। पति ने संदेह दूर किया और वह मान भी गई।

पर उस रात कुछ और भी होना था। उसने मान किया। पति को उत्सुकता हुई—उसके मान की अवहेलना कर दे। वह रोने लगी थी, और पति ने मन का रूप देखना चाहा था। उन्होंने देखा, सफल भी हुए। उनकी जीत रही, पत्नी पिघली। पर उसकी जीत और भी बड़ी थी। पति का हृदय वह जीत पाई थी। वह जानते थे, वह हठी है। उसका हठ वह देख चुके थे। आत्माभिमान उसमें कूट कूट कर भरा था, पर उसमें किसी

तरह का अहंकार न था। इस पर लगी चोट वह न सह सकती थी। इसी कारण उसने स्त्री शृङ्गार की एक वस्तु का तिरस्कार कर रखा था। लोगों ने उसे सुझाया। उसने कहा था—नहीं। पति ने भी कहा था—ऐसी बातों पर ध्यान न देना चाहिये। वह हँस पड़ी थी, पर अपना हठ न छोड़ा। साथ ही उस चोट करनेवाले के प्रति उसके हृदय में कोई इर्ष्या भी न जगी थी, वही आदर था। उसके पति को आश्चर्य हुआ था। उसके हठ को उन्होंने बुरा भी न समझा। और भी कितनी ही बार उन्होंने उसे हँसाया था, रुलाया था। इन्हीं द्वारा उसने उनके हृदय में एक ऊँचा स्थान बना लिया था—शायद प्रेम का—जो कभी भी भूला न जा सका। न जाने क्यों, उस रात भी, उसके मान के कारण ही उनमें एक आशा बँध आई—शायद अपने आदर्श तक उसको पहुँचा सकें।

जाते समय उसने कहा—'लोगों के विचार आपके प्रति कुछ बदल रहे हैं!' पति ने इसे हँस कर टाल दिया।

एक वर्ष और बीत गया। पति के लिये पत्नी और भी प्यारी बन गई थी—उसके लिए भी पति वही था। उन्हें लगता—औरों के लिए भी वे वही हैं, पर दूसरे कुछ और सोचते। लोगों को वह बदला हुआ दीखता था। कोई उसमें अभिमान पाता, किसी को अहंकार मिलता, कोई उसके हृदय में छल देखता और कहीं धोखा और कपट दीख पड़ते। पर अब भी वह वही था। लोगों ने केवल समझने में भूल की थी।

वह स्वयं सोचते—कैसे, कब मैंने पत्नी का पक्ष किया? मैंने उसका ध्यान भी कब रखा? वह तो मेरे सामने भी न आई! मेरा कोई अपना तो न था—सभी एक-से थे। बहुत से लोगों का आदर किया—वे उसे जान न पाये और शायद कभी न जान पायें। बहुतों को प्रेम, स्नेह श्रद्धा की दृष्टि से देखा—वे शायद इसे समझ न पाये। फिर मेरा अपना कौन? किसी के लिए भी तो मैंने कुछ न किया। फिर यह दोष! कभी किसी का बुरा भी न किया, किसी का मन दुखाने का प्रयत्न न किया। अपनापन भो तो बुरा नहीं—पर दूसरों का भी तो ध्यान रखा।

फिर सोचते—यह तो लोगों की धारणा है। स्वयं आयी है, स्वयं जायेगी। मैं कैसे प्रयत्न करूँ उसे हटाने की! मुझमें तो वह शक्ति नहीं। उसी के लिए रोता भी हूँ—दूसरों का बुरा कर सकूँ, कपट-छल की चाल चलूँ। इन्हीं की तो दुनिया में पूछ है, पर यह शक्ति भी मुझे कभी भी न मिल पायी। फिर भी लोग दोष देते हैं! खैर, उनके विचार में वाधा न देना ही ठीक है। संदेह के अंकुर से पौधा निकलेगा। पौधा बढ़ पेड़ होगा। एक धारणा बन जायेगी पेड़ है। उसमें फल-फूल भी लगेंगे और एक दिन वह पेड़ स्वयं धराशायी हो जायेगा। आँधी लाने से वह कुछ पहिले भी जा सकता है, पर उसकी आवश्यकता नहीं। उसकी प्राकृतिक मृत्यु ही भली है। उसका भला हो, उसके पालने वालों का कल्याण हो!

और इसी कारण जब उस दिन उनकी भाभी ने कहा था—

'आप सोचते रहते हैं। अपने को एक रास्ते पर नहीं लाते !'— वह हँस कर रह गये थे। और उसी दिन वह जान पाये भाभी से ही बहुत बहुत सी बातें। वह फिर हँसे—'हाँ बातें सुनते सुनते आपके हृदय पर चोट भी लगती होगी। पहिले कुछ उत्सुकता रही होगी, कुछ गुदगुदी—बाद में चोट।' उनकी भाभी हँसने लगी थीं—'नहीं, यह तो पतिपत्नी की आदत है। किसी से कुछ कहने में संकोच नहीं करते !'

वह फिर सोचने लगे थे। ध्यान हो आया था—किससे क्या कहा है ? हो सकता है कुछ कहा भी हो पर इसमें धोखा खाया। जो कुछ था हँसी में था, दूसरों का हृदय जानने को था। पर यह भी एक छल है। इसका फल मिला। नहीं तो मैंने कभी किसी के बारे में कोई राय भी निश्चय नहीं की, निश्चय भी न करना चाहा। इन्हीं सबों का दोषारोपण तो मुझपर हो रहा है। खैर जाने दो। सभी मुझे भूल जायँ। मेरी तरफ से अन्य-मनस्क हो जायँ !

नैराश्य ने उन्हें घेर रखा था। दुनिया उन्हें रूखी दीखती थी—उसमें कोई मनुष्यत्व न था।

पर घाव पर मलहम लगा। पत्नी ने उन्हें फिर सहारा दिया—'भूल जाइये इन बातों को !'

उसी रात जोर की आँधी आई। बादल रिमझिम रिमझिम बूँदें छोड़ने लगे। बिजली कौंधने लगी। उन्होंने पत्नी का प्रसन्न रूप देखा। कितनी ही बार देखा था—हँसते हुए, खेलते हुए।

सोहाग की पहिली रात का न क्षोभ था, न ग्लानि। उसकी जगह आनन्द की लहर उठती, बिजली की कौंध में आश्चर्य खो जाता। उसकी भोली बातें, मान अरमान, हसता मुख—सबने उनका दुःख धो दिया। आँखों से वे उलझ गये। उनकी पुतलियाँ पलकों में जा छिपतीं और एक श्वेत, शान्त प्रदेश पुतलियों को बुलाने लगता। पलक गिरती और एक पर्दा सा पड़ जाता—पर्दा उठते ही एक प्रकाश हो जाता। होठ हिल पड़ते, मिल जाते।

पर वे कब तक मिले रह सकते थे। पूर्वाकाश लाल हो उठा। पत्नी ने कहा—जाती हूँ। और वह जाने लगी। उन्होंने यों ही पूछा—कहाँ? वह रुक गई। दोनों की आँखें मिलीं और झुकीं। होंठ मिले और मिले ही रहे। आँसू की दो बूँदों ने इस अचेतना को दूर किया। पत्नी हँसी—पति देखते रहे, और वह एक एक पग बढ़, एक पर एक सीढ़ी उतरती नीचे चली गई।

न जाने कब के लिए वे दोनों विदा हुए।

देव-दासी

उस दिन कृष्णपूजा थी। सुन्दर वाटिका के बीच संगमर्मर के बने विशाल मन्दिर में भक्तों का समारोह था। बिजली के प्रकाश में मन्दिर का स्वर्ण-गुम्बज चमक कर बतला रहा था—भारत दरिद्र नहीं। भक्तों का समूह दिखला रहा था कि आज के दिन हमारे राजे महराजे भी दीन प्रजा की बराबरी करने को तैयार हैं। उनका वेषभूषा मिलता जुलता। ग़रीब अपनी चिर-संचित पूँजी आज बाहर निकाल लाये थे और धनी अबीर पोत सबसे हँसी खुशी मिल रहे थे। कृष्णमूर्त्ति के दर्शन के लिए सभी लालायित थे। भक्ति और प्रेम की निर्मलधारा, मन्द मन्द बहती बयार के साथ, हरित पल्लवों के बीच खड़े जनसमूह को रोमांचित कर रही थी। उसी बीच मन्दिर-कपाट खोलने को पुजारी आ खड़ा हुआ। जनसमूह में खलबली मच गई। मनुष्य कलरव में कर्णप्रिय मन्त्रों ने अपनी राग मिला दी। ऐसी पूजा से नित्य के अभयस्त पुजारी की आँखें एक बार नाच उठीं। सुन्दर विशाल ललाट पर लगा रोरी का टीका लकीरों के साथ

टेढ़ा हो पुजारी को मिली शिक्षा को दर्शाने लगा। होठों पर थिरकती हँसी लोगों को न बतला सकी कि चमकती आरती की थाल के भरे जाने की आशा से ही उसके होंठ काँप रहे हैं। आज सबके लिए सभी भक्त ही दीखते थे।

एकाएक 'ठन ठन ठननन्न्...' की आवाज़ हुई। पुजारी का हाथ कुंडी पर जा पड़ा। दरवाज़े खुले। लोगों की आँखें दौड़ पड़ीं। पर कृष्णदर्शन के पहिले ही भक्तों की प्यासी आँखों के सामने 'झूमझनन्न्...' की मधुर झंकार देते हुए, नृत्य देवी आ खड़ी हुईं। अनायास ही सबकी पुतलियों पर पलकें गिरीं और उठीं; कितनों ने अपने को स्वप्न में समझ आँखों पर हथेली रख हटा ली; पर उन्हें दीखा—साक्षात् देवी, नीचे पड़े हाथ की अँगुलियों से कला का प्रदर्शन कर, दूसरे उठे हाथ में आरती के स्वर्ण थाल के दीपों को नृत्य दे, मुड़े पैरों पर शरीर का एक कोण बना, पतली, लम्बी, कुन्दन सी गोरी ग्रीवा पर टँगे नारी मुख में भावभंगिमा भर, स्थिर अचल मूर्त्तिकी तरह खड़ी, विश्वकवि कलाकार की चातुरी दिखला रही हैं। और उन्होंने देखा—लम्बी चौड़ी पलकों ने देवी की आँखों को कमलपाश में पड़े जीव की तरह बन्द कर लिया है, और यौवन, लज्जा, उत्पीड़न से लाल होंठ स्थिर हैं। कलामूर्त्ति ने एक बार संदेह उत्पन्न कर दिया—वह सजीव है या नहीं? भक्तों ने कृष्णमूर्त्ति की तरफ आँख घुमाई। कहीं राधा ही तो उनके सामने आकर नहीं खड़ी है? पर राधा के सामने खड़ी देवी ने राधा को छिपा

लिया। केवल हँसती हुई कृष्णमूर्त्ति ही दिखलाई पड़ी। किसे ध्यान—कृष्णमूर्त्ति क्यों हँस रही है? श्रद्धा से भरे भक्तों ने देवी की तरफ आँख घुमा दी। भरी हुई आत्मा पर आँखों को विजय मिली। जिस आत्मा का संसार में खून किया जा चुका था। उसमें शक्ति ही कितनी थी!

चतुर पुजारी के एक ही इशारे से कलामूर्त्ति ने लोगों का स्वप्न दूर किया। पूजा की थाली नाच उठी। देवदासी के हाथ काँपने लगे। उसकी मीठी झंकार ने यह भुला दिया कि यह मन्दिर है, लोग पूजा को आये हैं। सब एकटक नृत्य देवी की करामात का रस लेने लगे। क्षण में ही एक कोने से दूसरे को जाते हुए देवी के पैर रुक गये। झनकार बन्द हो गई। केवल लोगों के हृदयतंत्री की आवाज़ उनके कानों में नृत्य का आभास दे रही थी। भीड़ में खड़े एक पुरुष पर उसकी आँखें जा लगीं। झुकीं और गिर पड़ीं और देवी उस तरफ नृत्यभंगिमा में ही चल पड़ी। उसके पहुँचने के पहिले ही लोगों की आँखें उधर मुड़ पड़ी थीं, पर वे उस भाग्यवान को उस भीड़ में न पा सकीं। देखते देखते ही पूजा में अभ्यस्त मूर्त्ति एक भक्त के सामने पेट के बल जा पड़ी। उसकी ठुड्ढी जमीन से और नासिका पुरुष के पैर से जा लगीं। एक हाथ दूसरे पैर पर पड़ा, और दूसरा आरती की थाल लिए ऊपर को ही उठा रहा। लोग अभी इस कलामूर्त्ति की इस अद्भुत पूजा को ही देख रहे थे कि पुजारी गरज पड़ा। लोगों का ध्यान भंग हुआ। उनकी आँखें उस

पूजित मूर्त्ति की तरफ उठीं। एक रूखा सूखा, समय का सताया पुरुष खड़ा था। आँखें ज़मीन से लगी थीं। सब भक्तों से हेय वस्त्र पहिने, पानी धूल से सनी-सटी जटा, गड्ढे पड़े गालों पर कहीं कहीं लम्बे लम्बे बाल- यही उसका रूप था। पुजारी की गर्जन से चौंककर उसने भी लोगों की तरफ देखा। सब आश्चर्य-चकित हो आँखें फाड़े खड़े थे। पर वह नारी-मूर्त्ति अचल थी। मानों उसकी पूजा सफल हुई। पुजारी के नौकरों ने उसे उठाना चाहा, पर वह बेहोश थी। आश्चर्य और बढ़ा। पुरुष वहीं बैठ गया। उसका एक पैर पानी से भींग गया था—इसे केवल उसी ने देखा। लोग ? उन्होंने कौतुक से एक बार उसे देखा। देवदासी हटा दी गई थी। जनसमूह फाटक की तरफ मुड़ पड़ा। क्षण में ही वाटिका सूनी हो गई। पूजा का द्रव्य न पा पुजारी दुःखी हुआ। वह न जान सका कि भक्त क्यों लौट पड़े ?

❀ ❀ ❀ ❀

पुजारी देखता कि वह मनुष्य प्रतिदिन उस मन्दिर की तरफ आने लगा है। वह जल जाता। पुरुष पागल की तरह इधर उधर देखता, किसी खोई वस्तु को ढूंढ़ता, थोड़ी देर तक बैठा रहता, और फिर कुछ अस्फुट शब्द कहता हुआ वहाँ से चला जाता। पुजारी कभी कभी सुन पाता—उसका अतीत कितना सुन्दर था ! वह कितना सुखी था !! आगे के हरएक दिन में वह अपनी खोई वस्तु के पाने की आशा ले आता था, पर रोज का भविष्य वर्तमान बनता और किसी दिन उसका स्वप्न पूरा होता न दीखता

बिचारे ने कभी यह न सोचा कि बीते दिन सुखकर दिखलाई ही पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने एक रूप धारण कर लिया है। रूप कभी असुन्दर नहीं होता, भले ही मनुष्य उसमें त्रुटियाँ निकाले। भविष्य की कल्पना भी तो उसे सुख ही देती थी, इसलिए कि वह केवल एक स्वप्न है। पर वर्तमान का तो न कोई रूप है और न वह स्वप्न ही है। उसमें तो बिचारा अपनी हार देख दुःखी ही होता, केवल अपनी हार का ही ख्याल रखता, रूप भूल जाता, स्वप्न का मौका न मिलता।

एक दिन पुजारी उसके पास आया। पूछा—वह कौन है? क्या चाहता है? पुजारी की तरफ वह आँखें गड़ाये रहा। उसकी आँखें परिचित मूर्ति को ही पहिचानने के प्रयत्न में थीं। दुःख में पला हुआ ब्राह्मण-पुत्र, नरेश पुजारी बन, ऐश्वर्य में रह पहिचाना न सका था। आश्चर्य और ईर्ष्या से काँपता पुरुष बोल उठा—'नरेश पंडित!' पुजारी सन्न हो गया। यह उसका परिचित कौन? आँखों ने बतलाया—'अलगू चमार! किसी स्मृति से पुजारी काला हो उठा। सम्हल कर चिल्ला पड़ा—'अछूत होकर इस मन्दिर में!' अछूत एक रहस्य भरी मुस्कान हँस पड़ा और एक तरफ चल दिया। पता नहीं, पुजारी ने उसकी मुस्कान को समझा या नहीं, पर वह अपनी पहेली सुलझाता ही गया—उसकी पत्नी जब उसी दुष्ट ब्राह्मण के साथ रहती है, तो वह बेहोश क्यों होगई थी? फिर कभी वह दिखलाई न पड़ता।

पुजारी देवदासी के पास पहुँचा। हृदय की चोट खा, वह

फिर सम्हल गई थी अपने लड़कपन के परिचित ब्राह्मण पुत्र को वह भी न पहिचान सकी थी और पुजारी ने अपना परिचय देना भी ठीक न समझा था। वह चतुर पुजारी था। पास बैठी देवदासी के गले में हाथ डाल पूछा—तुम्हें क्या हो गया था?'

हँसकर युवती ने पलकों को गिराया और फिर धीमे बोली—'पता नहीं!'

पुजारी हाथ हटा उसकी तरफ देखने लगा। उसकी पुतलियाँ नृत्य कर रही थीं, होंठ अस्थिर थे। अपने को वह न सम्हाल सका। देवदासी के अस्थिर होठों पर एक छाप दे उन्हें और भी कँपा दिया। लाली दौड़ गई। वह उसे निरख रहा था। फिर गंभीर हो पूछ बैठा—'वह पुरुष कौन था?'

युवती पुजारी की अँगुलियों से खेल रही थी। चुप रह, फिर बोली—'मेरा पति!'

सब कुछ जानते हुए भी पुजारी ने पूछा—'तुम्हें छोड़ क्यों दिया?''

युवती इस बात को यहीं छोड़ देना चाहती थी। पुजारी की तरफ देखा। वह हँस रही थी। युवती उसे भाँप न सकी। उसके भाव हँसी में छिप गये थे। बोली—'निर्दय है!'

'कैसे?'

देवदासी ने साँस ली और कह गई—'दुष्ट है। रोज़ कहा करता था, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे लिए जान दे सकता हूँ, तुम्हारे बिना जी नहीं सकता। पर उस दिन उसका प्रेम पता

नहीं कहाँ भूल गया। नरेश ब्राह्मण रोज़ रोज़ फिरा करता था, तलवे चाटने को तैयार रहता था। मैंने, उसका मन रख दिया, तो बुरा क्या किया? पर उस पर तो नशा चढ़ा था। मारपीट कर घर से निकाल दिया। सोचा भी नहीं—भला नीच जाति के लिए सतीत्व का मूल्य ही क्या? क्या इसे रखने में ही प्रेम है? यह कैसा प्रेम? हम लोग भी तो सब कुछ करते हुए भी भी कृष्ण के प्रेमी हैं!'—युवती ने मुँह बना लिया और पुजारी हँस पड़ा।—'और सुना, ब्राह्मण भी भग गया!'

उसकी बात सुन पुजारी आश्चर्य में पड़ गया। वह फिर मन्दिर में बेहोश क्यों हुई? बात बदलने के लिए पूछा—'तुम जिस दिन यहाँ आई थी, अपनी हालत याद है?'

इठलाती हुई वह बोली—"क्यों याद दिलाते हो?'

पुजारी गंभीर था। किसी आशंका से भरा था। अनजाने ही पूछ बैठा—तुम्हें याद है उस दिन तुमने क्या कहा था, जब मैंने तुम्हें स्थान दिया?'

'हाँ!'

'क्या?'

"मैं अछूत हूँ!'

"और मैंने क्या कहा था कि मैं जानता हूँ?'

देवदासी कन्धे पर हाथ रखती हुई बोली—'हाँ!'

'तुमने' यह सोचा—मैं कैसे जानता हूँ?'

',तुम पुजारी हो!'—और वह लिपट गई।

लम्पट पुजारी सब भावुकता भूल गया। पर काम पिपासा शान्त होने पर ही वैराग्य उठता है। किसी आशंका ने उसे गंभीर बना, भावुकता में ला डुबाया। पूछा–'तुम मुझे छोड़ दोगी?'

'नहीं!'—खेलती नारी बोली।

उसने बात बदली—'अगर वह ब्राह्मणपुत्र तुम्हें मिल जाये, तो क्या करोगी?'

"उस पर थूक दूँगी!'—देवदासी गंभीर हो गई।

चतुर पुजारी इधर उधर देखने लगा। युवती हँस पड़ी—'ध्यान लगाये हैं पुजारी जी?'

"हाँ!'

'किसका?'

"तुम कहीं चली न जाओ!'

"पर इधर उधर क्या देख रहे हैं? कोई छिपा है क्या?"

"पुजारी चुप था। वह फिर बोली—'मैं उस नीच के साथ कभी नहीं जा सकती, प्यारे!'

और उसने आलिंगन में कस एक चुम्बन ले लिया!

'पर वह तुम्हारा पति है!'

"वह मेरा कुछ भी नहीं।'

"फिर तुम उस दिन बेहोश क्यों हो गई थी?'

देवदासी गंभीर हो, फिर हँस पड़ी—'पता नहीं क्यों?'

और दोनों ने भुजपाश कस लिए।

❀ ❀ ❀ ❀

वर्ष भर बाद।

उस दिन भी कृष्ण उत्सव था। मन्दिर सजाया गया था। वाटिका में बैठी कोयल बसन्त बुला रही थी। वाद्ययंत्र उत्सव का होना सूचित कर रहे थे। धीरे धीरे जन समूह से वाटिका भरने लगी। भक्ति और श्रद्धा की नदी में बाढ़ आता गया। सबके साथ वह अछूत पुरुष भी मन्दिर में आ घुसा। पुजारी उसे देख चिल्ला उठा— 'इस मन्दिर में अछूत !' उसका गर्जन सुन लोग सतर्क हो उठे। कृष्ण मूर्ति के पास खड़ी देवदासी बाहर निकल आई। आरती की थाली चमक रही थी। आँखें घूम रही थीं।

पुरुष एक मार्मिक हँसी हँस कर बोला—'अछूत !'

पुजारी सम्हला। पर देवदासी को देख फिर चिल्लाया— 'व्यभिचार !'

युवती ने एक बार पुजारी की तरफ देखा और फिर उस पुरुष की तरफ, और फिर जनसमूह की उमड़ी नदी की तरफ। नदी शान्त थी, स्थिर थी, अवाक् थी। अछूत पुरुष चिल्ला उठा—

'व्यभिचार ! नरेश पंडित, तुम्हारे जैसे पुजारी ही व्यभिचार फैलाते हैं। व्यभिचार कर, व्यभिचार व्यभिचार चिल्ला लोगों को इसके देखने के लिए उत्सुक करते हैं·········।'

देवदासी चकित हो नाच उठी। गर्दन मोड़ते हुए—'नरेश पंडित !' और फिर अवाक् हो पुजारी की तरफ देखने लगी। उसे विश्वास ही न होता कि ये भी ब्राह्मण देवता हैं पर पुजारी

के काले मुँह ने देवदासी के मुख को विकृत बना दिया।

और खड़े लोग इस तरह से देखने लगे, जैसे उनके लिए यह कोई नयी बात हो। यह न सोच सके कि यह तो नित्य की घटना है।

और अछूत ने पूछा—'व्यभिचार कैसा पंडित ?'

पुजारी ने अपने को सम्हाल लिया था। साहस कर बोला—'इस मन्दिर में यह प्रेम का अभिनय !' पर अब तो मौका चूक गया था। देवदासी की सुन्दरता क्षण के लिए गायब हो चुकी थी। लोग आश्चर्य से इस बदली हुई मूर्त्ति को देख रहे थे।

अछूत हँस पड़ा—'प्रेम का अभिनय ! इस मन्दिर में !! पंडित, प्रेम का अभिनय सर्वत्र हो सकता है। यदि इस मन्दिर में कृष्ण और राधा के लिये स्थान है, तो मुझे और तुम्हारे मन्दिर के उस देवदासी को भी है। राधा के प्रेम की पूजा इसी लिए तो होती है कि उसे दुनिया जानती है; पर पत्नी रुक्मणी की पूजा नहीं होती क्योंकि वह पत्नी थी। उसके प्रेम को केवल पति पत्नी ही जानते थे। उसने कृष्ण पर अपने को न्योछावर किया, पर कृष्ण ने नहीं। पति होकर उसके अधिकारी थे। राधा और कृष्ण में अधिकार का प्रश्न न था। बराबरी का दावा कर उन्होंने प्रेम का अभिनय किया, और उसे चिर अमर बनाया। फिर देवदासी तो मेरी पत्नी ही है। दुनिया को दिखलाने के लिए रुक्मणी के साथ, मैं राधा को भी मिला देना

चाहता हूँ अभिनय के प्रेमी इसे अभिनय का रूप दें।'

देवदासी हँस पड़ी और फिर पुजारी की तरफ देख, नृत्य करती अपने पति के पैरों पर लुढ़क गई। थाली चकनाचूर हो गई, और उसके साथ ही अछूत चिल्ला पड़ा—'रधिया! तुमने मुझे क्षमा किया?' रधिया हँसती रही। पता नहीं उसने उस विचारे अछूत को क्षमा किया या नहीं? वह तो मरी पड़ी थी। पुजारी क्या जाने कि वह क्यों हँसी, और फिर मर क्यों गई? उसने मुड़कर देखा—कृष्ण मूर्त्ति भी हँस रही थी।

तरंगों में

प्रिय भाई !

तुम्हारा पत्र बहुत दिन पहिले मिला था। मैंने उत्तर नहीं दिया। तुम मुझपर अप्रसन्न अवश्य हुए होगे; लेकिन सुधीर मैं विवश हूँ। तुम्हारे साथ जिन दिनों खेला करता था, वे घड़ियाँ सोने की थीं, और आज का मेरा संसार धूल भरा है। तुम्हें अब तक मेरी याद बनी है, यह देख कर मुझे बहुत हर्ष हुआ था। फिर भी ठीक समय पर तुम्हें पत्र न लिखा। क्यों नहीं लिखा, जानते हो? मैं बीमार हो गया हूँ। बिमारी क्या है, यह तो मैं स्वयं नहीं जानता, लेकिन मैं बिमार अवश्य हूँ। मैं शायद पागल हो गया हूँ। कल दिनभर रोता रहा, फिर रातभर अन्धकार की ओर देख हँसता रहा। लेकिन सुधीर, मुझे उन्माद नहीं, मैं पागल नहीं। कुछ नहीं!......प्रेम सागर, समाज की तूफान और मेरे जीवन की नाव। अरे! तूफान मेरी नाव को उलटना चाहती है! क्या इस घोर अन्धकार में कुछ भी प्रकाश नहीं??........

सुधीर ! तुमसे अब मैं सब कह डालूँगा। शायद इससे मुझे कुछ शान्ति मिल जाय। मेरे जीवन का रहस्य सुनो। मैंने अब तक इसे छिपाया था, पर आज सब कुछ सुनाऊँगा। हाँ भाई ! मेरे जीवन का रहस्य !! सुनो—

आज से दो साल पहिले मैं काशी के क्वीन्स कालिज में पढ़ता था। मेरी दशा उस समय भी वैसी ही थी जैसी आज के पहिले तुमने देखी है। मुझे संसार से काम नहीं। कालिज जाता, होस्टल आता, और फिर रूम बन्द कर पड़ जाता। न किसी से मैं बोलता, न दूसरे मुझसे। कुछ लड़कों को बुरा मालूम होता; कुछ व्यंग भी बोलते। कुछ कहते आजकल जमाना प्रतियोगिता का है। बिना बोले काम नहीं चल सकता। कितने यहाँ तक कह डालते कि बिना चंचलता के यौवन क्या ? पर मैं मन ही मन हँसता और अपनी दिनचर्या का नियमबद्ध पालन करता।

कुछ महीने बीत गये थे। शीतकाल के अन्तिम दिन थे। मार्च का महीना। आकाश में बादल भी छाये हुए थे ठंढी हवा चल रही थी, कभी कभी बूँदें भी पड़ जातीं। मैं अन्यमनस्क भाव से कालिज चला जा रहा था। पर बीच ही में इन दो आँखों ने तो गजब ढा दिया। ये एक मकान की खिड़की पर जा अटकीं। मकान एक वकील साहब का था। जाति के कायस्थ थे। चलते पुर्जे के तो वकील नहीं थे, पर किसी तरह से दिन गुजर जाते थे। देखा—खिड़की से दो आँखें मेरी तरफ देख रही हैं। अवि-चल, अनिमेष नेत्रों से मेरी तरफ कोई देख रही थी। भाई ! वे

आँखें वकील साहब की लड़की की थीं। मैं भूल गया कि कालिज जाना है। उन आँखों ने तो मुझे आकर्षित कर लिया था। पर मुझमें कुछ मनुष्यता रह गई थी। सभ्यता का ध्यान कर मैंने वहाँ खड़ा रहना उचित न समझा। कालेज का तो रास्ता भूल ही पड़ा था—होस्टल लौट पड़ा। पर वहाँ कहाँ कल ? उल्टे पाँव पीछे लौटा। पर खिड़की सूनी थी। मार्ग भूले पथिक की तरह शायद उस घर के दरवाजे को गली समझ उधर ही चल पड़ा। पर हताश हो लौट आया। होस्टल आ, रूम बन्द कर पड़ रहा।

पर मुझे रूम में चैन कहाँ ? हृदय में द्वन्द्व था। एक तरफ कर्तव्य और दूसरी तरफ कर्तव्य के सुरभित उद्यान में गरम बयार बहानेवाली वे आँखें। कर्तव्य था माता-पिता की तरफ से। उनकी कितनी आशा रही होगी कि लड़का पढ़ता होगा। पढ़ लेने पर हम उसका सुख देख सकेंगे। स्वयं सुखी होंगे। पर इधर तो मेरी विचित्र दशा थी। न रोता, न हँसता। कल्पना-सरिता में डुबकी लगाता। शायद डुबकी की चोट हृदय पर लगी। मालूम हुआ मैं पागल होगया। उस पागलपन में भी कितना सुख था। उस समय मैं सोचता—यह संसार कल्पना का ही क्यों न हुआ जिसमें पागलपन का स्वप्न देखा जाता। इस सुख-स्वप्न की कल्पना ने कर्तव्य पर विजय पायी। और सूर्य्य भगवान अस्ताचल की तरफ तीव्र वेग से जा रहे थे, मैं भी एक तरफ चल पड़ा, पर यह नहीं मालूम कि किधर जा रहा हूँ। कोई लक्ष्य न भी रहने पर तीर तो कहीं जा ही लगता है। मैं

भी, पहुँच गया एक पार्क में। तालाब के किनारे एक बेंच पर बैठ गया। देखा—तालाब में बुलबुले उठते और फिर विलीन हो जाते हैं। कल्पना पर चोट लगी। मैंने आँखें फेर लीं—यही निराशाभरी आँखें। पर सामने देखा कोई परिचित सी चीज—वही अविचल नेत्र जो खिड़की पर दिखलाई पड़े थे। आँखें पहिचान गईं। उसने भी शायद देखा। आँखें नीची कर लीं। स्त्री ही तो ठहरी। पर मुझे सुध कहाँ। देखता ही रहा......।

देखता था उसकी सुन्दरता को? नहीं! उसको। वह सुन्दर थी? रही होगी। पर मुझमें सुन्दरता परखने की शक्ति कहाँ थी? मुझे सुन्दरता से काम ही क्या था? फिर सुन्दरता तो एक उद्विग्न मनुष्य के परखने की चीज नहीं। मेरे हृदय में वेदना की, व्यथा की, निराशा की छाप पड़ी हुई थी। न मालूम कैसी वेदना, कैसी व्यथा? हृदय में एक कसक सी मालूम पड़ती। रह रह कर हृदय में एक चुभन सी होती। हृदय झंकार सा उठता। शून्य सा मालूम पड़ता। इसके दवा की आवश्यकता थी। दवा थी; पास ही में थी, पर आशा पर तो कुठार सा गिरा था। निकट भी दूर ही मालूम पड़ा। पर हृदय ही तो ठहरा। उसकी मीठी कसक में साहस के भाव झंकार कर उठे। उस साहस में कितनी शक्ति थी! मैं भी उधर ही चल पड़ा।

तुम कहोगे, संसार कहेगा—'रमेश, तुम कितने कामी हो, कितने नीच हो! एक अनजान युवती का पीछा कर रहे हो!' पर नहीं! वह अब अनजान नहीं थी। वह तो मेरी चिरपरिचित

थी। हृदय में उसका स्थान था। न मैंने कभी उसे देखा था, न उसने मुझे; पर उस दिन·········। कहोगे—'इस छोटे क्षण में कैसा परिचय ?' पर एक छोटे से बीज ही से तो एक पहाड़ सा पेड़ निकल आता है, इन छोटी सी आँखों से ही तो सारे संसार से परिचय होता है। फिर मैं स्वयं तो उसके पीछे नहीं जा रहा था। मेरे हृदय को एक अद्भुत सी शक्ति उसके पीछे लिए ज़ा रही थी। शक्ति थी सरल, पर थी हृदय की अनुभूति। उसी ने हृदय में कसक को जन्म दिया। मैं तो उस कसक के पीछे जा रहा था, उस प्रेम के पीछे जा रहा था, उस युवती के पीछे नहीं।

उस समय मैं संसार को भूल गया था, समाज को भूल गया था, कर्तव्य को भूल गया था और भूल गया था अपने को। मेरे हृदय की अदृश्य अनुभूति ने मुझे अभय बना दिया था, उस मीठी कसक ने, उस प्रेम ने सब रुकावटों को तुच्छ समझा। उसी उमंग में मैं बह चला। कितनी प्रबल थी वह उमंग! मैं तो उस उमंग में बह रहा था, पर वह चली गई थी। उसके अभाव का अनुभव हृदय ही को मालूम है। निराशा में हृदय का सब उत्साह मन्द पड़ गया। प्रकाश का कुछ भी पता नहीं। सूर्य्य भगवान भी रोते हुए चले गये थे। मैं भी आ गया, वहीं अपने होस्टल में। कमरे में सोये कल्पना में अनन्त की तरफ दौड़ लगाने लगा। बीत गई वह रात। दिन भी बीता। फिर !···

उसी पार्क में, उसी दशा में बैठे स्वप्न देख रहा था। आई,

वही ! मैं उद्विग्न हो उठा। वह मेरी तरफ से ही आई। आगे बढ़ गई। साथ में उसका छोटा भाई था। मैंने उसे पकड़ लिया। नाम पूछा। फिर पूछा उसको। कितना भोला था ! बतलाया—'मेरी बहन सरला' है। दसवें दर्जे में पढ़ती है। यहाँ घूमने आते हैं। अब जा रहे हैं।' जाते समय वह मेरा नाम भी पूछता गया। वह चली गई।

वह पार्क में रोज़ टहलने आती और मैं भी। धीरे धीरे परिचय बढ़ने लगा। अब उसे कोई संकोच न मालूम होता। कभी कभी मेरे सामने की बेंच पर बैठ जाया करती। मेरा आकर्षण धीरे धीरे बढ़ने लगा। वह निकट आती सी मालूम पड़ने लगी। सचमुच निकट आ रही थी। मेरा हृदय एक अपूर्व आनन्द से सिहर उठता। वह अज्ञात शक्ति मुझे उसकी तरफ खींचने लगी। शायद उसकी भी············।

एक दिन सचमुच में, भाई ! एक अद्भुत आवेश से मैं काँप उठा मेरा हृदय धड़कने लगा। प्रणय का पौधा तरुवर होकर लहलहाने लगा। शीतल वायु ने हृदय में गुदगुदी मचा दी। शायद उस लहलहाते तरुवर की किसी डाली से कोयल कूक पड़ी। कोयल थी आत्मा। आत्मा की पुकार में भी 'पी कहाँ' की ध्वनि गूँज उठी। इस पुकार में नीरवता ने बाधा डाली। वह तो अन्यमनस्क भाव से बैठी कुछ सोच रही थी। उसने देखा—मैं कुछ कहना चाहता हूँ। शायद सुनने को तैयार थी। पर मैं तो होश में न था। सुखद प्रवाह में बह रहा था। होश आया

तो मैंने उसके कोमल कर को अपने हाथों में पाया और सुना—'सरला ! जिस दिन से तुम्हें पहिले पहल देखा था, उसी समय से हृदय में······। उस रोग की एक ही दवा है। वह तुम।' यह क्या ? मैं चौंक उठा। लेकिन मैंने तो सच ही कहा था। वह सिहर उठी। सरल थी वह ! संकोच से बोली—'समय हो गया है। मैं जा रही हूँ।' संकोच ने भी उसे कितना सुन्दर बना दिया था। वह चली गई।

भाई ! उस दिन मैं कितना प्रसन्न था ! जो रातें किसी के अभाव में रोते बीतती थीं, आज वे ही बीत गईं जागते हुए। उस जागरण में उल्लास था। हृदय ने अपनी खोई वस्तु पा ली थी। शायद आत्मा की पुकार सुन ली गई थी। वह प्रसन्न थी। हाथों में गुदगुदी थी। उसके कोमल कर तो मेरे हाथों में ही आये थे न। सुख-स्वप्न की लहर तरंगित होनें लगी। जिसको मैं स्वप्न समझता था, आज चरितार्थ होता सा मालूम पड़ा। इन्हीं स्वप्नों में बीत गई वह रात ·········।

फिर एक दिन उसी पार्क में वह थी और मैं—जीवन-व्यापी मीठी कसक को साथ लिए। पार्क सूना था। और उसमें था चिड़ियों का कलरव, और थी प्रणय की गुदगुदी। याद है—वह थी मेरे बाहुपाशों में, उसके कपोल थे मेरे कन्धों पर और उसकी सरल आँखें देखती थीं मेरी तरफ। उनमें शायद यह प्रश्न था—'क्या यह सब कुछ क्षणिक ही होगा ?' मैं कह उठा—'यह चिर जीवन मिलन। प्रकृति की गोदी में मिले हैं और मिले ही रहेंगे।'

वह तैयार थी। तुम कहोगे—'यह चिर मिलन की आशा कैसी ? तुम तो उससे प्रेम करते थे न ? उस प्रेम में आशा कैसी ?' पर नहीं भाई ! प्रेम, प्रेम चाहता है। चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है, प्रेम की आशा से। पपीहे का हृदय कितनी आशा से भरा रहता है। तब भला मनुष्य प्रेम की आशा क्यों न करे, चिर मिलन का स्वप्न क्यों न देखे ? इसी आशा से तो मनुष्य, मनुष्य कहलाता है।—तो यही आशा प्रेम-सागर को कितना अथाह बनाये जा रही थी; और उस पर चली जा रही थी मेरे जीवन की नाव। उस नाव को खेने में वह कितनी चतुर थी ?

एक दिन प्रेम-सागर शान्त था। उसमें जल सागर की गर्जन नहीं, वे भयंकर तरंगें नहीं, और वैसी ऊँची चट्टान नहीं। वह तो शान्त था, समतल था और था अथाह। उस पर एक नाव चली जा रही थी और वह नाव थी मेरे जीवन की। उसमें वही, वही मेरी सरला, पतवार चला रही थी। वह पतवार थी शायद आशा की—वही आशा चिर मिलन की। उस समय ही उस शान्त सागर में एक मीठे स्वर की तरंग उठी। सुन्दर और सुनील गगन कह रहा था, प्रकृति कह रही थी कि 'खेती जा ! खेती जारी ! खेती जा !" मैं मुग्ध था और मुग्ध थी वह। पर उस सुनील गगन के एक कोने में छोटा सा काला धब्बा दिखलाई पड़ा। वह बादल था...

तो कुछ ही दिन में उन विश्वनाथ की पवित्र भूमि में शीतला का प्रकोप हुआ। मुझपर भी उन शीतला माता की दया हुई, और

उस प्रेम सुख को स्वप्न बना, जाना पड़ा दूर, अस्सी मील दूर और दूर अपनी उस सरला से। और उस बिचारी सरला की क्या दशा हुई? वह इस निष्ठुर समाज की शिकार बनी। वही समाज जो आँखें फाड़ फाड़ कर हमारा प्रेम मिलन देख रहा था, वही समाज जिसके लिए सरला कहा करती थी—'जीवन अपना है, समाज से क्या मतलब?' और वही समाज जो उस दिन सुनील गगन के एक कोने में काले धब्बे के समान दिखलाई पड़ा था, शिकारी हुआ मेरी सरला का। उस समाज को हमारा प्रेम स्वीकार नहीं था। और सरला? वह रोती बिलखती चली गई एक बूढ़े जमींदार के घर।

उस दिन उस शान्त प्रेम-सागर में बड़े जोर से झंझावत चली। प्रेम-सागर काँप उठा। भयंकर लहरें उठीं सागर चिल्ला उठा। उसके वक्षःस्थल पर चलती हुई मेरी नइया डोल उठी। आज उसके खेने के लिए वह सरला न थी। मुझे एक दिन उसका पत्र मिला—पहिला और अन्तिम पत्र था—

'मेरे देव!

आज विवश हो दूसरे घर में हूँ। अन्तिम समय मिल न सकी। क्षमा करना मेरे देवता। मुझे अपने सतीत्व पर विश्वास है। जा रही हूँ आज उस अनन्त प्रकृति की गोद में। यह पत्र लिख संसार में न रहूँगी। पर नाथ! मेरी आत्मा के सुख के लिए, शान्ति के लिए, अपनी जीवन नइया को किनारे लगाइयेगा।'

सुधीर कितने लम्बे लम्बे दिन और रातें निकलती चली जा रही हैं, और मुझे अभी तट का पता नहीं मिलता। कौन जानता है कि यह नैया किनारे लगेगी या नहीं? जो कुछ भी हो, अभी खेना तो पड़ेगा ही।

तुम अपना कुशल समाचार लिखते रहा करो। तुम्हारे पत्र से मुझे बहुत शान्ति मिलती है।—

तुम्हारा रमेश

(सागर की लहरों में)

देवताओं का कपट

कोई नहीं जानता, दुनिया में देवता क्यों आये ? मनुष्य के पुराण बतलाते हैं कि अपनी सृष्टि की लीला देखने के लिए वे उसके पास रहने लगे। पर देखते देखते देवता स्वयं ही अपने को मनुष्य लीला से वंचित न रख सके। वे स्वयं मनुष्य के साथ भूल पड़े, अपनी ही माया में आ फँसे। ऐसी भूल की ही एक कहानी सुनने को मिलती है।—

मालूम नहीं त्रेता था या सत्ययुग, द्वापर था या कलियुग, पर यह पृथ्वी थी, इस पर मनुष्य थे और देवता भी। मनुष्य के तो कई रात दिन बीत जाने पर एक वर्ष हो जाता है। कई वर्ष मिलकर एक अवस्था लाते हैं, जब मनुष्य रंग-राग-लिप्सा के लिए व्याकुल हो उठता है, जब प्रकृति में भी उसे काया विह्वल देवी का सौन्दर्य दिखलाई पड़ता है और वह स्वयं सौन्दर्य रचना में लग जाता है। फिर एक दिन उसमें शिथिलता आने लगती है। पर हमारे देवता अवस्था के इस अंतिम प्रहार से बचे हुए हैं और उनके लिए न दिन है, न रात। युग पर युग

बीतते जाते हैं पर हमारे वही देवता रहते हैं, उनका वही रूप और वही बल भी। देवता तो नवीनता के पुजारी बन नित्य नई नई सृष्टि कर उसकी लीला का आनन्द लेते हैं, पर वे स्वयं चिरयुवा हैं—उनका न जन्म है, न मृत्यु। मनुष्य उनमें कोई नवीनता नहीं ढूँढ़ता, न तो उनकी सृष्टि करके ही, और न विनाश कर।

हिन्दुओं के एक ऐसे ही देवता कैलाश पर्वत पर बैठे मनुष्य लीला देख रहे थे। विह्वल हो पार्वती से बोले—'देवी ! उधर देखो नीचे। मनुष्य का आनन्द !' पार्वती नीचे देखने लगीं। शिवजी बोले—'प्रिये, कौन सा जीवन अच्छा है, हमारा या मनुष्य का ? अपने कार्य में लगा मनुष्य सुख दुःख का आनन्द लेता है, अपना कर्म भोगता है। हमारा न कोई कर्म है, न धर्म है, न कार्य। केवल भक्ति, केवल पूजा ?' पर पार्वती का ध्यान उधर न था, उनकी आँखें विन्ध्याचल पर्वत से लगी किसी समस्या को सुलझा रही थीं। शिवजी अपने ऊँचे आसन का लाभ उठा रहे थे। पार्वती को खींच, नीचे दिखला बोले—

'देवी ! मनुष्य का लीला सौन्दर्य देखो।'

उदास पार्वती एक छिपी दृष्टि पृथ्वी पर डालती, और हँसती, शर्माती शिव से बोलीं—"मुझे तो......" और एक लाली उनके सौन्दर्य को बढ़ा बैठी।

'स्त्री हो न।'—शिव हँसे और पार्वती को आलिंगनपाश में बाँध लिया।

पार्वती फिर उदास हो, खिंचकर बोलीं—'आप मुझसे प्रेम करते हैं ?'

शिव हँस पड़े—'तुम भी स्त्रियों सा व्यवहार करने लगी !'

पार्वती कटाक्ष करते हुए 'क्या करूँ ? कितने वर्ष पूज करने पर पुरुष द्रवित होते हैं, और अपनी प्यास बुझा स्त्री को प्यासा ही छोड़ जाते हैं।'

'पर मुझ पर तो विश्वास है, पार्वती ?'

'स्त्री विश्वास न करे तो और क्या करे ?'

'संदेह !'—यह कह शिव ने पार्वती को अपनी तरफ खींचा

'मेरी एक इच्छा पूर्ण कीजियेगा ?'

'कहो !'

'उधर देखिये। वह कौन सी ऊँची उठती वस्तु है ?

'विन्ध्याचल पर्वत !'

'पर पीछे देखिये। मेरे पिता का मुँह किसी चिन्ता में सफेद हो गया है। शायद उन्हें डर है कि विन्ध्या उनसे ऊँचा हो जाय।'

'पार्वती, हमें देवता होकर यह न सोचना चाहिये कि कौन ऊँचा है, कौन नीचा।'

पर पार्वती न मानीं। शिव बोले—'अच्छा, कोई रास्ता निकालूँगा।'

पार्वती प्रसन्न हो लिपट गईं और जब शिव के कर से

निकलीं तो देखा विन्ध्याचल क्रूर दृष्टि से देख रहा है। डर कर मुड़ीं तो देखा, शिव वहाँ न थे।

× × × ×

मानसरोवर के वक्षस्थल पर सूर्य रश्मियाँ नाच रही थीं। किरणों का कम्पन आनेवाली आपत्ति को बतला रहा था। पर सरोवर के जीव तो सूर्य के न थकनेवाले रथ की तरफ देख रहे थे दूर सुदूर ऊँचे शिखर पर बसे देवताओं के देश को ही। केवल अकेली बैठीं पार्वती स्वच्छ नील जल पर किलोल करते इस समूह को शून्य नेत्र से देख रही थीं। बिन्ध्या पर उनकी आँखें टिक न सकी थीं और न मानस की शोभा पर ही उनका ध्यान था। पिता की गोद में पली देवी, पिता के गृह में ही निवास करनेवाली पार्वती पिता के डर को कैसे भूल सकती थीं? जब आँखें कुछ और आगे, कुछ और ऊपर कहीं क्षितिज के पास पहुँची, तो देखा—देवतागण स्वर्णमुकुट धरे, किसी उलझन सुलझाने में व्यस्त बैठे हैं। शिव को देख पार्वती हँसी और अनायास ही उनकी आँखें चोंच मिले हंस जोड़े पर जा लगीं।

उधर शिव को अन्यमनस्क देख सुरराज इन्द्र ने कारण पूछा। पृथ्वी का भार सम्हालने वाले त्रिलोचन भगवान की आँखें किसी दूर देश में जा लगीं। माथे पर सिकुड़न ला बोले—इन्द्र! उधर देखो, पृथ्वी पुत्रों पर आपत्ति आना चाहती है, मानव जाति सशंकित है......।' देवताओं ने दृष्टि दौड़ाई; पर कहीं कुछ भी न दीख पड़ा। पृथ्वी पर वही मनुष्य थे, वही उनका

जीवन था। इन्द्र ने आश्चर्य भरी, प्रश्नसूचक हँसी शिव पर डाली। उनकी आँखें अब भी कहीं लगी थी। गंभीर वाणी निकली—'देवताओं ! विन्ध्याचल ऊपर उठता जा रहा है। सूर्य्य का रथ रुकनेवाला ही है।' देव सभा में खलबली मच गई। सब सोच में पड़ गए। शिव ने पूछा—'अब ?'

इन्द्र बोले—'भगवान, एक बात है।' सबका ध्यान उधर खींचा। इन्द्र कहते गये—'अगस्त मुनि दक्षिण जा रहे हैं। शायद वह कुछ कर सकें।'

शिव को आशा बँधी। मुनि बुलाये गये। इन्द्र ने उन्हें सब कथा सुनाई। अगस्त मुनि सोचते सोचते —'हाँ ! प्रश्न तो छोड़ने लायक नहीं, पर मैं क्या कर सकता हूँ। वह तो बड़ा ही सद्चरित्र पुरुष है। उसे आशीर्वाद देना ही तो मेरा धर्म है।'

देवता फिर सोच में पड़ गये। तब तक इन्द्र फिर बोले—'एक बात हो सकती है। वह आपको शीश अवश्य झुकायेगा, पर दक्षिण से लौटने के पहिले आप उसे आशीर्वाद न दीजिये।'

'नही, नहीं ! मैं ऐसा निर्दय नहीं हो सकता, इन्द्रदेव !'

गंभीर बैठे शिवजी बोले—'मुनिराज, कुछ और युक्ति निकालने के पहिले, आप हमारी मदद न करेंगे ? वह नीचे आपकी सन्तान खेल रही है। उसे ही रोना पड़ेगा, मुनिदेव !'

मानव जाति पर आनेवाले कष्ट से मुनि सहम गये बोले—'तब ?'

'इस समय तो केवल एक वही उपाय है, मुनिजी आपके लौटने के पहिले हम कोई दूसरी युक्ति सोच लेंगे।'

मुनि इन्द्र की तरफ देख बोले—'अच्छा, देवराज ! आप-लोग कोई युक्ति सोच रखिये। शीघ्र ही मैं दक्षिण से लौटूँगा।'

देवताओं ने एक दूसरे को देखा। इन्द्र के होंठ हिले, हँसे—'धन्य मुनिराज !'

इन्द्र की आँखों ने मुनि को देवसभा से निकलते देखा। फिर नाच उठीं। कपट में अभ्यस्त इन्द्र ने एक युक्ति निकाल ली थी। देवताओं की आँखें उनसे जा लगीं। हँसते इन्द्र बोले—'मुनि के पहुँचने के पहिले ही एक देवकन्या दक्षिण को भेज दी जाय।' देवता उनकी बात न समझ चकित से हुए। उनकी आँखों ने प्रश्न किया—इससे लाभ ? इन्द्र हँसे—'विन्ध्याचल अभी अवि-वाहित है। मायामूर्ति दक्षिण में जा तपस्या में लग जाय। मुनि से विवाह का आशीर्वाद ले, जिसे विन्ध्या भी सुन सके। मुनि के जाते ही कामदेव अपना वाण छोड़ें और जिस समय विन्ध्या-चल अपना हाथ फैला स्त्री मूर्ति को आलिंगन करना चाहे मूर्ति गायब हो जाय। झुका विन्ध्या इस चोट को न सह धरासायी हो जायेगा और फिर सर न उठा सकेगा। उसका शरीर छिन्न भिन्न हो जायेगा।'

देवता बड़े प्रसन्न हुए। केवल एक ने कहा—'और उसके शरीर के नीचे जो जीव मर जायेंगे ?'

शिव ने कहा—'पृथ्वी की रक्षा के लिए हमें उसके कुछ पुत्रों का संहार करना ही होगा।'

तब तक दूसरा देवता बोला—'यदि मुनिराज हमारी इस युक्ति को मानव सन्तान में फैला दें?'

बूढ़े ब्रह्मा ने कहा—'नहीं, ऐसा न होने पायेगा।' मुनिदेव इसके लिए समय न पायेंगे और मनुष्य को हम उत्तर दे देंगे कि विन्ध्या मुनि के पैरों पर पड़ा है, मुनि आशीर्वाद देने ही वाले हैं।'

देवताओं की शंका दूर हुई। सभा विसर्जित की गई।

× × × ×

अगस्त मुनि दक्षिण दिशा को चल पड़े। एक मायामूर्ति ने स्त्री तपस्विनी का वेष धारण किया और विन्ध्या के नीचे, घने जंगल में बैठ, जाल फैलाने की तैयारी की। पर विन्ध्याचल को मालूम न था कि देवता उसपर कुपित हैं, उसकी उन्नति वे देख नहीं सकते और न वह यही जानता था कि उसके लिए माया-जाल रचा जा चुका है। उन्मत्त मस्तक लिए आकाश देख रहा था।

अगस्त मुनि के पहुँचते ही उसने श्रद्धा से शीश झुकाया। मुनि हाथ उठाने ही जा रहे थे कि तपस्विनी ने उनका पैर पकड़ा। नतमस्तक विन्ध्या उस देवी को न देख सका। तपस्विनी की भक्ति अपने ऊपर देख मुनि ने आशीर्वाद दिया—तेरी कामना पूरी हो।' मुनि तो दक्षिण को प्रस्थान कर बैठे, पर माया तपस्विनी तृष्णा का विष पिलाने के लिए सलज्ज, कामातुर नारी की भाँति

खड़ी रही। विन्ध्या ने धोखा खाया। सिर ऊपर उठाते ही दृष्टि नारी पर पड़ी। मुनि का कहीं पता न था। पर्वत अनायास ही पूछ बैठा—'देवी, तुम कौन हो?'

सुदूर बैठे देवता इसी की बाट देख रहे थे। कामदेव के सुमन सर विन्ध्या के वक्षःस्थल में लगे। देवबाला ने भी एक गहरी दृष्टि ब्रह्मचारी पर फेंकी। ब्रह्मचर्य कँप उठा। नेत्र रक्तवर्ण हो उठे, एक नशा सी दौड़ गई। अनायास ही पर्वत झुक सा गया। एक गंभीर, धीमी कम्पित वाणी निकली—'देवी, तुम कौन हो?'

बाला की दृष्टि पर्वत को पार कर देवताओं से जा मिली थी। विन्ध्या का हृदय बिंध चुका था। एक झंकार हुई—तेरी कामना पूरी हो। विन्ध्या और झुका। 'कौन हो, देवी?'—एक आर्त-ध्वनि हुई।

'एक तपस्विनो!'—गंभीर नारी मूर्ति बोली।

'तपस्विनी?'—विन्ध्या ने एक आश्चर्य दृष्टि फेंकी। पर अब वह अपने को सम्हालने में असमर्थ था। कुछ और झुका। मूर्ति हँसी—'केवल एक नारी, पुरुष!'

'नारी?'—विन्ध्या और झुका। 'तेरी कामना पूरी हो'—की ध्वनि गूँज उठीं।

'हाँ, पुरुष की तपस्या में लगी नारी!'

'वह कौन भाग्यमान है, देवी!'—मायामूर्ति उष्णवायु को पा समझ चुकी थी, पर्वत बहुत नीचे झुक आया है। आँखों से

एक कटाक्ष हुआ, होंठ कुछ हिले। विन्ध्या सम्हल न सका। भुजायें उतावली हो उठीं। नारी मूर्ति पीछे हटी। पर्वत और झुका।

'ठहरो, मेरे देव !'—स्त्री घबड़ाहट दिखला बोली।

अब तो पर्वत और भी न सम्हल सका। हाथ आगे बढ़े। नारी पीछे हटी।

तुम अपने को क्षण के लिए सम्हाल नहीं सकते, प्रियतम ?' नारी मूर्त्ति हँसी। पर्वत फिर कँपा। ध्वनि हुई—तेरी कामना पूरी हो।

' 'तुम्हारे लिए इतनी तपस्या की देव ! फिर भी तुम द्रवित न हुए थे। एक क्षण में दृष्टि लगाते ही, तुम्हें क्या हुआ, रूप के पुजारी देवता ? काम के उत्पीड़न से व्याकुल, पुरुष ?'—नारी क्रोधित सी दीख पड़ी।

विन्ध्याचल डरा। पर ध्वनि हुई—तेरी कामना पूरी हो। साहस कर और आगे झुका। भुजपाश में लाने को हाथ आ लगे। नारी ने अवहेलना की—'कुछ देर तो ठहरो, प्रियतम ! मुनि दक्षिण से लौट हमारा विवाह करेंगे। फिर······'

'नहीं, नहीं, प्रियतमे ! देवी !!······' विन्ध्या बहुत झुक चुका था। उसके कर्ण सागर के हृदय पर बजती दुन्दुभी को सुनने लगे थे, हृदय की राग से मिल गये थे। पर्वत कँपा और व्याकुल हो मूर्त्ति को पकड़ने के लिए झुका। मूर्त्ति अन्तर्धान हो चुकी थी। पागल विन्ध्या धराशायी हुआ। पृथ्वी काँप उठी, समुद्र की लहरों ने भयंकर रूप धारण किया, कोलाहल हुआ, आर्तनाद से

दक्षिण पवन भर उठा। अगस्त मुनि भयभीत हो पीछे को फिरे। देखा विन्ध्याचल पर्वत दक्षिण को ढके पड़ा है। उसका अंग भंग हो चुका है। आँखों से आँसू टपक पड़े—उसी समय उसे क्यों न आशीर्वाद दे दिया? देवताओं का कपट मुनि क्या जानते थे?

कराहते हुए विन्ध्या ने सर उठाया। मुनि को देख बोला—'यह क्या, मुनि देव?'

''गंभीर मुनि ने पूछा—'तुम्हारी यह दशा कैसे, विन्ध्या?'

'आपके आशीर्वाद का परिणाम!'

'मेरा आशीर्वाद?'

'हाँ!'

'मैंने तुम्हें अभी आशीर्वाद कहाँ दिया था, विन्ध्या?'

क्षुभित हो पर्वत बोला—'तेरी कामना पूरी हो!'

मुनि की आँखों में आँसू आ गये। 'तुमने धोखा खाया, पर्वत! मेरा आशीर्वाद उस तपस्विनी के लिए था।'

'तपस्विनी! नारी!! वह किधर भगी, मुनि देव?'—उसका क्रोध फूट पड़ा।

मुनि एक सूखी हँसी हँस पड़े—'तुमने भी धोखा खाया, पर्वत और मैंने भी! मैं न जान सका था, वह मायामूर्त्ति है।' फिर मुनि आपसे आप पूछ बैठे—देवताओ, यही तुम्हारी युक्ति थी? मुनिजी को क्षोभ हो आया। सारा कपट कह सुनाया।

विन्ध्याचल दुःख में कराह उठा—'अच्छा, मुनि जी! आप

अब इधर ही रहिये। सब रास्ता ढक गया है।'

अगस्त मुनि गंभीर हो गये। उनके हृदय से एक आह निकली—'देवताओ, मैं तो अब इधर ही रहूँगा, पर तुम्हारे लिए भी अब कैलाश पर स्थान न होगा।'

उसी समय विन्ध्याचल ने समुद्र की तरफ अपना सिर उठाया, और उसी तरह आज तक रह गया। वहीं पर आज नीलगिरी पहाड़ स्थित है। उसके दोनों मुड़े पैरों से आज के विन्ध्याचल और सतपुरा बने; दाहिने हाथ को ऊपर उठा लटका दिया, और एक हाथ को कुछ मोड़, एक ठंढी साँस ले, क्रोध में जल लाल काला हो, पृथ्वी माता पर शरण ली। वही आज हमारा दक्खिन का पठार है।

❁ ❁ ❁ ❁

इधर एक तरफ तो दुःख का आर्तनाद गूँज रहा था, और उधर हिमालय पर बैठे देवगण हर्षित हुए। कैलाश पर बैठे शिवपार्वती दक्खिन दिशा का उलट फेर देख रहे थे। पार्वती हँसी—'देखो, विन्ध्याचल अब कितना नीचा हो गया है!' पर क्षण में ही उनकी हँसी भूल गई। विन्ध्या का ऊँचा उठा दाहिना हाथ देख डर गईं। अनायास ही चिल्ला पड़ीं—'वह कौन सा जानवर है!' उनके हृदय में भय समा गया कि क्या पिता से ऊँचा अब कोई और होने जा रहा है?

'हाथी का सूँढ़ मालूम होता है!'—शिवजी बोले।

'बड़ा विकराल जानवर होगा !'—पार्वती काँप गईं। फिर शिव पर शून्य नेत्र डाले।

एकाएक शिवजी हँस पड़े—'नहीं, नहीं ! हाथी का सूँढ़ नहीं, यह तो विन्ध्याचल का एक हाथ है।'

पर पार्वती के हृदय में डर समा गया था। गंभीर बनी बैठी थीं। शिवजी भी गंभीर हो बोले—'पार्वती ! मैंने तुम्हारे पिता की मान रक्षा तो की, पर दूसरी आपत्ति मोल ली। अगस्त की सन्तान हमें अब यहाँ रहने न देगी, और तुम्हारे पिता का भी ऊँचा रहने का गर्व न रह सकेगा।'

शिवजी चुप हो पार्वती की तरफ देखने लगे। पार्वती किसी सोच में बैठी थीं। शिव ने क्या कहा ?—वे न जान पाईं। बहुत दिनों तक उनमें डर समाया रहा। और जब उनका गर्भ पूरा हुआ, गणेश ने सूँढ़ के साथ जन्म लिया। पार्वती ने सकरुण आँखों से विन्ध्याचल की तरफ देखा। उसका हाथ उसी तरह था।

कर्मफल

'भाभी, आज रात तू जागती ही रह गई ?'—हँसते हुए राधा ने पूछा।

'हाँ राधा ! पर अभी तो आकाश में तारे अठखेलियाँ कर रहे हैं। चन्द्रमा हँस रहा है। और तब भी तू मुझे देखने यहाँ आ गई ?'

'पर तुम्हारे ही मुख से एक शब्द सुनकर मैं यहाँ आ गई भाभी जी ! सुनने के लिए समझने के लिए।'

'मेरे मुँह से शब्द ?'

'हाँ, भाभी जी ! कर्मफल......'

युवती ने एक आह भरी। फिर निस्तब्धता। आकाश की तरफ देखा। निशिनाथ भागते जा रहे थे। तारे गगन में लौ, लगा शून्य में विलीन हो रहे थे। पूर्वाकाश के लाल अधर पर मुसकान की रेखा छिटक रही थी। और निशि इस अपूर्व मुस्कान पर मुग्ध हो, अपने को न्योछावर कर उसी में मिली जा रही थी। मिल भी गई। संसार जाग उठा। विहंग वृन्द बोल उठे।

कुछ के चित्कार में विरह की वेदना थी, कुछ में कर्तव्य का ध्यान। युवती काँप उठी। उषा की शीतल बयार उसकी आह से तप्त हो गई। हँसी, पर उस हँसी में वेदना थी। उसकी आँखें कुछ कह रही थीं। राधा ने देखा। सुना भी......

'राधा, चलो, बहुत से काम करने हैं।'—युवती ने कहा था।

दोनो चल पड़ीं राधा की पहेली पहेली ही रह गई।

पर राधा की पहेली तो केवल अन्वेषण क्रिया ही थी—अन्वेषण उस तड़पते हुए युवती के मचलन की जिसमें आह भरी थी और भरी थी अरमान। इधर युवती रमा की पहेली उलझी ही जा रही थी। रमा सुलझाते सुलझाते शिथिल पड़ गई। उसके अतृप्त हृदय में, विरह की मचलन में, तप्त प्राणों में और मचलते अरमानों में थी प्रिय के रूठने की वेदना, और दुःखभरे, खिले हुए अधरों के मुसकान में, हृदय की शून्यता में और दृगों की प्यास में थी 'पी कहाँ' की पुकार। उसकी हृदयतंत्रियों की मधुर झनझनाहट में थी 'पी कहाँ' की निरन्तर रटन। और उसके लिए लहलहाते पौधों में, विहंग वृन्द के कलरव में वल्कि सारी प्रकृति की मुस्कान में थी 'पी कहाँ' की मधुर संगीत। पर सच, 'पी कहाँ' की पहेली उसके लिए कितनी उलझी थी! पी कहाँ? वे तो दूर, दूर उस प्रिय रमा से, अपनी ही पहेली सुलझाने में व्यस्त थे। पहेली भी कितनों की ही जीवन-सहेली है।

❀ ❀ ❀

समय के फेर ने पहेली को ही विजय की सहेली बना दिया

था। उसके विचारों की ट्रेन रुकने का नाम न लेती थी। उस विचारी ट्रेन का हृदय तो स्वयं ही जल रहा था, भला दूसरों के हृदय का उसे क्या पता? वार वार एकही बात उसे याद पड़ती और फिर विचार का ताँता बँध जाता। पहेली उलझ जाती। यों ही निराशा उसके जीवन की अनुगामिनी हुई जा रही थी—वही निराशा जो अपने कर्म पर प्रायश्चित करना भी नहीं चाहती। और उसके विचारों ने निराशा के प्रति प्रतिशोध की शक्ति भी छीन लिया था। उसे केवल याद था अपने जीवन का इतिहास—लड़कपन, किशोरावस्था और यौवन का सम्मिलन, प्रेमलीला और फिर दुःख की तूफान। सोचता—क्या प्रेम कर कोई सुखी रह सका है? वह सब कुछ भूलना चाहता था, पर भूल न सका। वही शैशव, यौवन, विवाह, मिलन, कसक, प्रेम, धूपछाँह, रूठना, दुःख का तूफान और प्रेम पुष्प का जा गिरना, अब भी रह रह कर याद पड़ते, उसे दुःखी करते।

उसे याद पड़ता कि उसके जीवन में भी एक समय था जब वह रात दिन हँसता रहता। लड़कपन का दिन बीता। किशोरावस्था और यौवन का सम्मिलन था। हृदय में संकोच था, मन में उल्लास और शरीर में एक अद्भुत स्फूर्ति थी। पर सब जाती रही उस दिन उसने सुना था कि विवाह होनेवाला है। संकोच ने उसे माता पिता से कुछ कहने भी न दिया था कि विवाह हो गया। खिन्नचित्त तो अवश्य हुआ, पर उसे उस विवाह से न कुछ दुःख ही था, न सुख ही। जीवन नइया तो उसी वेग से बढ़ी

ही जा रही थी, पल-पल में आयु बीतती जा रही थी कि एक दिन उसके हृदय पर जोर का धक्का लगा। सुना कि उसके घर में कलह का बीज बोया जा चुका है, अंकुर भी अब निकल ही चुके हैं। उसे निकालकर फेंक देना तो दूर की बात रही, घरवाले अंकुर को पौदे का रूप देने जा रहे हैं, और उस कलह का कारण है उसकी पत्नी। इसे सुन विजय ग्लान सरोवर में गोते लगाये बिना न रहा। वह इस कलह का कारण भी न जान सका था कि एक दिन वह मिला उससे, उस अपरचिता रमा से जिसके लिए वह स्वयं अपरचित था विजय के हृदय में द्वन्द्व ने जोर पकड़ा। एक तरफ तो कलह का कारण समझी जाती थी, और दूसरी तरफ उसके लिए हृदय पर अधिकार था। तब भी हृदय में एक कसक ने जन्म लिया। कसक बढ़ती गई और हृदय में मीठे स्वर का प्रादुर्भाव हुआ। स्वर था प्रेम का।

पर समय ने फिर करवट बदला। पहिले जहाँ धूप थी वहीं अब छाया आई। घर में कलह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। उसने कुछ दिन तक उसे सहा, पर उसके लिए अब यह असम्भव था कि हृदय पर पत्थर रख वह उसे सहता ही रहे। उसने रमा से कलह का कारण पूछा। वह कुछ न बतला सकी। घर के और लोगों से भी उसने कलह का कारण जानना चाहा पर सबने यही उत्तर दिया कि इससे तुम्हें कोई मतलब नहीं। आज विजय के स्वप्न भंग से हुए। यौवन जाग उठा और उसने अपने हृदय को दुःखी पाया। वह रमा से मिला। बोला—'रमा,

क्या तुम नहीं जानती कि मेरा हृदय कितना दुःखी हो गया है ! मेरे सब मनसूबे रसातल को चले गये हैं। दशा असहनीय हुई जा रही है। मेरा जीवन तो दुःखपूर्ण होही गया है, पर क्या तुम सुखी रह सकोगी ?'

उस समय रमा संकोच से दब सी गई थी। साहस कर वह कह सकी—'नाथ ! मेरा सुख दुःख आपके हाथ है। इसमें न तो मेरा दोष है और न किसी दूसरे का। यह तो अपना कर्म-फल है।'

'कर्मफल, रमा ! सब कुछ अपना कर्मफल ही है। जो कुछ आवे उसे अपना कर्मफल ही समझो।'

यह कह विजय घर के बाहर आ गया था। दुःखके तूफान में वही विकसित प्रेम पुष्प जो एक दिन फूला न समाता था, धरा पर जा गिरा। आँखों में इतनी शक्ति न रह गई थी कि उस पुष्प को देख सकें, हाथों में इतना बल न था कि उसका भार सहन कर सकें, पर पैरों में भी इतनी शक्ति न थी कि उसको कुचल सकें। और वे चल पड़े थे एक अदृश्य लक्ष्य की ओर।

आज वह रमा से दूर था, पर वे दृश्य अब भी उसे याद आ रहे थे। प्रेम से दूर भागना अब भी उसे दुःख दे रहा था। उसका हृदय जानता था कि प्रेमपुष्प अब गिर पड़ा है, पर मुरझाकर नहीं, टूट कर। वह निष्कलंक है, उसी तरह विकसित है। वह पौधे के मुरझाने तक उसी तरह विकसित ही रहेगा, अपने यौवन में ही रहेगा। उसका हृदय रमा को, उसके प्रेम को भूलना ही

न चाहता था। उसके हृदय की बार बार यही पुकार थी कि प्रेम पुष्प का तिरस्कार न कर उसे उठा लो। पर फिर सोचता—क्या अब इसकी कुछ आशा है? क्या रमा को अब संसार असार न मालूम पड़ता होगा? क्या उसे न सूझता होगा कि मुझे एक ही पूछनेवाला भी आज मुझसे अलग है? संसार में जिसका कोई स्थान नहीं, जिसको कोई पूछनेवाला नहीं, वह भला संसार में रहे ही क्यों? क्या रमा ने ऐसा न सोचा होगा?—पर नहीं! इसमें भी आशा का धुँधला दीपक टिमटिमा रहा है। रमा को भी हृदय है। वह कभी भी उस पुष्प का विनाश होना न देख सकेगी। पुष्प को उठा लेगी, अवश्य उठा लेगी, कभी न चाहेगी कि वह मुरझा कर धूल में मिल जाय। पर क्या वह उसे उठा सकेगी? क्या उसका भार वहन करने में समर्थ होगी? इसमें संदेह है। उस पड़े हुए पुष्प और उसके बीच अथाह, अशान्त म्लान का सरोवर अवश्य होगा। क्या इस सरोवर को वह अकेले पार कर लेगी?—यही सोच विजय निराश होता जा रहा था।

मनुष्य जीवन आशा और निराशा, विश्वास और भ्रम का सर्वदा ही शिकार रहा है। इन्हीं पर संसार स्थित है। आशा का धुँधला टिमटिमाता हुआ दीपक ही जीवन के लिए बहुत होता है। एक छोटा सा भ्रम जीवन नदी में भँवर उत्पन्न कर उसे भयंकर बना देने के लिए कम नहीं। पर यही भ्रम कितना अस्थिर है, आशा कितनी क्षणिक है! यही क्यों? भ्रम से ही आशा पानी पानी हो जीवन नदी के पानी में मिलती है और निराशा

का हिमालय सा पर्वत खड़ा दिखलाई पड़ता है। पर कितनी देर के लिए? अविद्या के हटते ही भ्रम की वालुकामय भीत जीवन नदी के किनारों पर धराशायी हो पड़ी रहती है। निराशा का हिमालय सा पर्वत भ्रम के हटते ही जीवन नदी के टक्कर से गिर वर्फ की तरह उसके पानी में घुल घुल कर पानी हो जाता है और आशा बलवती होती है। यही दशा विजय की थी। क्षणमात्र में ही भ्रम की भँवर में उसकी आशा जा पड़ती और जीवन निराशा की तरफ जा झुकता। निराशा के घोर अन्धकार ने उसके जीवन को आच्छादित कर लिया। पर आशा का एक धुँधला दीपक उसके हृदय के एक कोने में प्रकाशित था। भ्रम ने उसकी निराशा को बलवती बना दिया था कि अब रमा इस संसार में नहीं होगी। पर रमा को भी हृदय उसमें भी मनुष्यता है यदि उसको हृदय है तो भला वह विजय को काल के गाल में क्यों जाने देगी? और उससे भी बढ़ उस ईश्वर द्वारा प्रेषित प्रेम पुष्प का विनाश भला वह कैसे देख सकेगी? इसी आशा ने विजय के भ्रम को मिटाया और निराशा प्रकाश में जा मिली।

अकस्मात एक रात विजय ने स्वप्न देखा। रमा थी उसकी कल्पना में। उसने सुना—'विजय, तुम्हारा हृदय अब तक पहेली ही है। कुछ दिन पहिले तुम जानते थे केवल रमा को। पर आज रमा कहाँ? क्या यही मनुष्य हृदय है? रमा की क्या दशा होगी? वह एक असहाय स्त्री है। तुम उससे दूर हो, उसी के

कारण तुम्हारे घरवाले भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उससे बोलनेवाला भी राधा के सिवाय और कोई नहीं। ऐसी दशा में ग्लान के सरोवर में वह किस तरह छटपटाती होगी? फिर भी इसमें उसका क्या दोष था? उस दिन उसके स्वभाव में बवंडर सा उठ गया था। उस बवंडर में वह कुछ देर के लिए शान्त न रह सकी। और फिर वह बवंडर कोई अस्वाभाविक तो नहीं। यह तो प्रकृति का नियम है—जो आज शान्त है, वह कल अवश्य चंचल हो उठेगा। तब भला उस बिचारी रमा का क्या दोष था! यह तो ईश्वर को ही स्वीकार था कि उस दिन उसकी बातों को तुमने मान समझा। पर जब वह बवंडर शान्त हुआ होगा, उसकी क्या दशा हुई होगी? एक तरफ ग्लान सरोवर में तड़फती होगी और दूसरी तरफ विरह की अग्नि धधकती होगी, जब वह जानती है कि यह विरह उसी के कारण है। पर हाय। जिस दिन विरह की धधकती अग्नि में ग्लान सरोवर का जल जल जायेगा, उस दिन उस बिचारी को शान्त करने के लिए क्या रह जायेगा? ईश्वर जाने उस तड़फती रमा की क्या दशा होगी? विजय! विजय! अब भी चेतो, अब भी याद करो उस रमा को, उस बिचारी रमा को!...

इतना सुन विजय जग गया। काँप उठा! उसका मुख शान्त पर गंभीर हो उठा। उसकी आँखें भर आईं पानी से, वही पानी जिसके न रहने पर मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। वह रमा के लिए रो उठा। सोचा—क्यों क्या यह सच नहीं

कि जब मनुष्य जल रहा हो, दुःख से, वेदना से, विरह से, तब उसके प्रिय स्वजन की प्रीति ही बुझा देती है उस अग्नि को और उसको ला देती है उसके पास। रमा तो स्त्री ठहरी! मैं जाऊँगा! जाऊँगा उसके पास!'—यह सोच विजय स्टेशन के लिए रवाना हो गया और घर का रास्ता पकड़ा।

× × × ×

सूर्य्य भगवान का रथ तेजी से बढ़ रहा था। उषा पृथ्वी पर लाल पीले रंग की पिचकारी छोड़कर हार चुकी थी, पर पृथ्वी पर छोड़ी हुई पिचकारी का रंग पूर्वाकाश को थोड़ी देर के लिए लाल पीला कर चुका था। ऊपर था गगन और उसके नीचे विहँसती प्रकृति थी और उसमें अब तक सोई हुई थी कलपती हुई रमा। वह स्वप्न देख रही थी एक गहरी नदी के किनारे खड़ी थी। नदी पतली ही थी। उसके बीच रेत था। रमा ने आँखें उठाईं। नदी का दूसरा किनारा सूना था। उसकी आँखें रेत पर जा अटकीं। उसपर था एक उज्ज्वल पुष्प—उसका वही परिचित प्रेमपुष्प। कितना प्यारा था, वह उसको! लेने के लिए कूद पड़ी उसी गहरी नदी में। पर उसने अपने को पाया बेहोश उस नदी के किनारे पर। बहुत ही निर्बल था उसका हृदय! कूदते समय उसे चोट लग गई थी। चोट से बेहोश थी।—पर स्वप्न भंग होगया। रमा ने देखा राधा को अपने पास। पर क्या वह स्वप्न देख रही थी? अब वह नदी कहाँ वह पुष्प कहाँ? और नदी किनारें कहाँ? वह तो पड़ी हुई थी अपने ही घर में, रोती

हुई, बिलखती हुई। स्वप्न में भी उसे कितना सुख था, पर स्वप्न भी तो भूल गया उसको। राधा ने बुलाया उसको—'चलो भाभी! कुछ खाना खा लो।'

'नहीं राधा, अभी मैं खाना नहीं खाती। सिर में दर्द है।'—

सच, उसके सिर में दर्द था—बड़ा भयंकर दर्द था। उस दर्द की दवा पास न थी, पर थी जरूर—संसार के अस्पताल में। पर वह तो स्त्री है! भला भटकते हुए उस अस्पताल में दवा की खोज में कैसे पहुँचे! समाज है न!

× × × ×

विजय ट्रेन में स्वप्न देख रहा था—वही रमा का स्वप्न। ट्रेन चली जा रही थी पर उसके स्वप्न से तेज नहीं। उसके स्वप्न से भी तेज उस स्वप्न में कल्पना की नदी बही जा रही थी। नदी शान्त थी। उसने आँखें उठाईं। दूसरा किनारा सूना था। पर बीच में रेत और उस रेत पर वही परिचित प्रेमपुष्प। हैं! यह क्या! नदी में कोई चीज गिर पड़ी। विजय ने धाँय की आवाज सुनी। आवाज कितनी भयंकर थी! नदी के बहाव में रुकावट पड़ा। पानी चढ़ उठा। रेत डूबने लगा। अब पुष्प भी जाने ही वाला है। देखो, यह पानी चढ़ा आ रहा है। अरे! वह रुकावट कुछ नहीं—रमा ही कूद पड़ी है उस नदी में। जागो, दौड़ो, बचाओ उस रमा को!—

विजय जग गया। सोचा, क्या सचमुच रमा नदी में कूद पड़ी है? उसे चोट भी लगी होगी।—हाँ विजय, उसे चोट भी

लगी है। चोट हृदय में है—गहरी चोट है। उसकी दवा है। तुम्हारे ही पास है।

× × × ×

फिर रमा उसी नदी के किनारे पर खड़ी थी, स्वप्न की नदी, कल्पना की नदी। उसके दोनों किनारों पर ऊँची दीवाल थी। एक दीवाल पर वह स्वयं खड़ी थी उससे बहुत नीचे नदी का पानी था। पानी मटमैला होगया था। नदी में बाढ़ आगई थी। रमा ने यह भी देखा कि वह दीवाल जिसपर वह खड़ी थी नीचे से कट चुकी है। पानी काटता ही जा रहा है। दीवाल गिरने ही वाली है। और उसने देखा कि रेता डूब गया है। केवल एक छोटा सा टुकड़ा बाकी है। उसी पर वह फूल है, लहरें चारों तरफ से बड़े वेग से बढ़ी आ रही हैं। रेत डूबता जा रहा है। फूल डूबने ही वाला है। उसने एक आह भरी। देखा आकाश की तरफ, पर सुनील गगन उसपर हँस रहा था। लहलहाते पौदों को देखा, पर वे भी तो हँस रहे थे। रमा रो उठी। वह सहानुभूति चाहती थी। पर निराशा। रमा विलख उठी। नदी दीवाल काट चुकी थी। उसने निराशा की साँस ली और अन्तिम बार आँखें उठाईं, उस दूसरे किनारे की तरफ। पर यह क्या? उस पर तो कोई खड़ा है! कौन? वही चिरपरिचित जीवन सखा! हाँ, वही! किनारे पर खड़ा था विजय, हाँफते हुए। अभी आया है। पर रमा, वह देखो! वह तो कूद पड़ा नदी में। रमा भी तो चली गई। नदी का जल और भी काँप उठा। दो धारायें आ

मिलीं उसी रेत पर। फूल कूद पड़ा उन धाराओं के मुख पर। कैसा मीठा था यह दो धाराओं का संगम—अधरों का संगम—चुम्बन।—

रमा हँस पड़ी। पर क्यों? अबतक तो वह रो रही थी। अब भी तो उसे कुछ मिला नहीं कि वह इतना प्रसन्न हो उठे! उसने आँखें खोलीं। सूना। वह काँप उठी। पीछे की तरफ देखा। उसका हँसना सार्थक हुआ। दौड़ पड़ी और लिपट गई विजय से। अधर जा मिले और......।

"यह सब विधाता का केवल परिहास मात्र ही था। कर्मफल के संसार में भी तो सुखदुःख की बस्ती है। मनुष्य का सुखदुःख तो विधाता का परिहास ही है।"—विजय जैसे मान गया था।

रमा ने संतोष भरी आँखों से विजय को देखते हुए कहा था—'कर्मफल।'

अनोखी भिक्षा

सुना है एक भिखारी था। वह भिक्षा माँगता था।

भिक्षुक युवती से यौवन माँगता, नारी से ममत्व। कहीं उसे यह भिक्षा न मिल सकी थी। कितने ही नगरों में घूम आया, इसी में वर्ष लगा दिया, पर कहीं भी उसकी भिक्षा न मिली। कोई माता पूछ बैठती—क्या करेगा? पुत्र को तुमसे अलग—और वह हँस देता। कोई युवती कटाक्ष कर कहती—तू बड़ा कामी है। वह हँस देता—स्वार्थी है। वह कहता स्त्री को कठोर बनाने के लिए यह भिक्षा। पुरुष युवती का यौवन पा दुनिया भूल जाता है, माता का ममत्व पा वह उसका निरादर करता है। उसे शिक्षा पानी है। फिर कोई कह बैठती—तू भी तो पुरुष है! वह हँस देता। कोई हँसती, मनचली कहती—ले चल मुझको। वह कहता—केवल यौवन को। 'इसका तुम भोगकर मुझे छोड़ देना चाहते हो?' वह हँस देता—इसका नाश! कोई माता पूछ बैठती—तुम्हारी माँ नहीं? उसका हँसता सर हिल जाता।—तो तुम्हें अपना पुत्र बना लूँ? वह कहता—ममत्व का दान कर दो।

ऐसा था वह भिखारी। कहीं भी उसे भिक्षा न मिली थी। पर उसने अबतक हार न मानी। अपनी अनोखी भिक्षा माँगता ही रहता।

उसकी एक कहानी है। धनाढ्य माता का वह पुत्र था। उसके पिता मर चुके थे। माता ने उसको एक बड़ी नगरी में शिक्षा के लिए भेज दिया था। एक विद्यार्थी का वह सच्चा जीवन बिता रहा था। पर वह भी दुनिया का मनुष्य था। यौवन में प्रवेश कर चुका था। निराशा और संदेह उसमें भी थे।

एक दिन, बहुत दिन पहले, यौवन की पहली उमंग में वह निराश हो उसे वेश्या कह बैठा था।

वह भी धनी घर की पुत्री थी। उसी नगरी के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाती थी। हाड़ माँस का बना साँवला शरीर था। उसके भीतर मनुष्य का भावुक हृदय था। गठे बदन की सुन्दरी थी। भरा मुख था। छोटे छोटे लाल होठों पर हल्की सी यौवन की लाली थी और था उनमें नृत्य। काली बनी भौंहों के नीचे बड़ी बड़ी आँखें थीं जिनमें कोई भी अपने को पुतलियों के बीच पा सकता था। वह सुन्दरी थी, मधुबन की मालती।

सभी मधुरस पान किया करते। वह किसी से घृणा न करती और न किसी से प्रेम। जिधर जाती एक ठंढी आह निकल आती। वह हँस पड़ती। पुतलियाँ एक कोने में जा लगतीं। युवक अपने को धन्य समझते।

फिर भी वह सबसे दूर थी। उसमें कोई विकार न आने पाया

था। पर वह कब तक वंचित रह सकती। आग के भीतर रहने लगी थी। कभी भी जल सकती थी। एक दिन ऐसा हुआ भी। उसने भिखारी युवक को अपना हृदय दे दिया। युवक उसके समीप आ उसे अपना बना बैठा। पर उसने प्रेम पा संदेह भी पाया। युवती मालती ही बनी रही। युवक उसके पास मँडराया ही करते थे। वह हँसती, बोलती। युवक डरता कहीं उसकी मालती दूसरी तरफ खिंच जाय! वह कहती—स्त्री को वह भी अधिकार नहीं? वह खेल नहीं सकती, हँस नहीं सकती, बोल नहीं सकती? वह कहता—इसकी भी सीमा होती है। पूछ बैठती वह क्या? और फिर दोनों चुप हो जाते।

युवक अपना अधिकार बढ़ाने की चेष्टा करता ही रह जाता। प्रेम के साथ जो संदेह पाया था। संदेह ने उसे अधिकार के लिए व्याकुल कर दिया। पर युवती उसके लिए तैयार न थी। वह स्वतंत्र थी। किसी का अधिकार उससे सहन न हो सकता था। मालती का सहारा भले ही एक हो जाय, पर दूसरों को रस देने में वह क्यों हिचके?

एक दिन झुरमुट के पीछे वह छिपा खड़ा था। सामने लान पर एक उसका ही साथी उसकी मालती को उलझाये हुए था। उसने कहा—

"मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, विवाह करने पर, और नहीं तो तुम्हारी दासी। तुम मुझे अपनी सहचरी भले ही न बनाओ पर मैं तो सदा अनुचरी बनी रहूँगी।"—

वह इतना सुन पागल हो गया। उसकी मालती प्रेम-भिक्षा माँगती है, इस पुरुष से ? संदेह का तार झंकार कर उठा। विक्षिप्त हो उसने अब कुछ भी न सुना। मालती कहती गई—

"मिरण्डा ने यदि फर्डिनेन्ड से यह प्रेम-भिक्षा माँगी, तो दोष ही क्या था ?"

"पर स्त्री को यह शोभा नहीं देता"—युवक ने कहा।

"कुलटा की भिक्षा तो यह थी नहीं। इसमें तो मिरण्ड का हृदय ही था, सरलता थी, आत्म मर्य्यादा थी।"

"पर वह थी तो स्त्री ! अपने समाज में स्त्री प्रेम भिक्षा नहीं माँग सकती।"

"पर यह पुरुष को क्यों शोभा देता है ?"

"उसे इसका अधिकार है !"

"और हमको अधिकार क्यों नहीं ?"

भिखारी युवक सम्हल पड़ा। मालती की प्रेम-भिक्षा उसके हृदय में शूल सी चुभ रही थी। इसे वह सह न सका। आया, पर गंभीर होकर। पागल सा पूछ बैठा—

"आज तुम कौन हो गई ?"

"सेक्सपीयर की मिरण्डा"—युवती ने उसकी गंभीरता का कुछ भी ख्याल नहीं किया।

"प्रेम-भिक्षा माँगती हो ?"

"हाँ !"

"किससे ?"

"सबसे !"

दोनों चुप रहे।

"स्त्रियाँ वेश्या हैं"—भिखारी युवक बोल उठा।

"और पुरुष ?"—युवती हँस पड़ी।

"सौन्दर्य की हाट में पुरुष नहीं बैठते। वह तो स्त्री का ही स्थान है। पुरुष अपना यौवन नहीं बेंचता।"

"हाँ !" वह तो रुपया भी देता है और यौवन भी क्यों ? युवती हँसती रही।

फिर दोनों चुप रहे।

"पर स्त्री को वेश्या किसने बनाया ?" युवती गंभीर हो पड़ी।

"काम ने !"

"पुरुष में काम नहीं ?"

"है ! पर उसकी सीमा है।"

"ओर यह सीमा किसने बनाई ?"—युवती फिर हँस पड़ी।

"समाज ने !"

"और समाज को किसने बनाया ? पुरुष ने !"—युवती के अधर काँप उठे।—"यदि स्त्री का भी इसमें स्थान होता, इसे बनाने में यदि वह भी हाथ बँटाती, तो पुरुष की तरह वह भी वेश्यावृत्ति इस समाज में रहकर ही कर लेती। हाट की जरूरत उसे न पड़ती। वेश्या वह न कहलाती !"

"पर तुम तो समाज में हो ?"

"हाँ, पुरुष समाज में !"

पर तुम भी वही कर रही हो।"

"क्या ?"

"तुम वेश्या हो। तुमने भी वेश्यावृत्ति उठा रखी है।" युवक का मुख विकृत हो उठा। युवती लाल हो आई। भिखारी युवक वहाँ न ठहर सका।

इस घटना को बहुत दिन बीत गये। दोनों पढ़ने न आते। उसे भी संदेह हुआ—क्या उन्होंने उसे वेश्या समझ लिया है! और उसे पुत्र भी तो होनेवाला है। वह जा उनका संदेह दूर करे? नहीं! वह वेश्या ही बनेगी। पर वह तो पढ़ी लिखी है? ऊँह, उससे क्या? उसी हाट में रहेगी। चोट भी तो है!

और युवक? उसने माता, कर्तव्य, घर सब कुछ छोड़ दिया। मनुष्य पर उसे अब विश्वास न रह गया। उसका नाश ही उचित दीख पड़ने लगा। उसने अपनी अद्भुत भिक्षा का ही सहारा लिया।

❀ ❀ ❀ ❀

एक दिन वह भिक्षुक एक नगरी में पहुँचा। भिक्षा माँगते माँगते सौन्दर्य की हाट में आ अटका। एक युवती के पास जा खड़ा हुआ। उसका साँवला रंग था, बड़ी आँखें, माथे पर लाल बिन्दी, घुँघराले काले बाल साड़ी से झाँक रहे थे। भिखारी ने देखा। युवती ने भी देखा—भिक्षुक खड़ा है। लम्बी रूखी जटा है, गेरुआ वस्त्र है। दोनों ने आँखें नीची कर लीं। उसने पूछा—

"तुम्हें कुछ चाहिये?"

भिक्षुक हँस पड़ा—"हाँ !"

युवती देखती रही। वह बोला—

"अपने यौवन का दान दे सकोगी ?"

"मैं तो दान दे चुकी हूँ !"

"किसको ?"

"सारे समाज को !"

"फिर भी मैं माँगता हूँ।"

"दे चुकी हूँ"—उसी तरह वह बोली।

"किसको ?"

तुमको।"

"मुझको !"

"हाँ !"

"कब ?"

युवती निरुत्तर देखती रही।

"अब न दे सकोगी ?"—युवक ने पूछा।

"क्यों ?"

"उसका नाश करना है।"

"समाज को दे मैंने स्वयं उसका नाश कर डाला है।"

भिक्षुक चल पड़ा। युवती देखती रही।

दूसरे दिन संध्या समय आँधी आई। आकाश धूल से भरा था। एक तालाब किनारे भिखारी बैठा था। वह बैठा ही कुछ सुन रहा था। आवाज जिसे क्षितिज से लौटना चाहिए था,

नजदीक से ही लौटने लगी थी। आँधी ने, धूल ने, एक नया ही क्षितिज बना रखा था। उसने सुना—

"माँ, यह मेरी नइया कहाँ तक जायेगी?"—भोले बालक की आवाज थी।

"जहाँ तक सागर है!"—एक दुःखिया की आह थी।

"फिर यह लौट क्यों आती है?"

माता चुप थी। बालक ने प्रश्न दुहराया।

"दुनियाँ में आँधी आ गई है। तेरी नइया के रास्ते में उल्टी लहर चल रही है। यह आगे कैसे जा सके?"

"तो माँ, यह लौटती क्यों है? डूब क्यों नहीं जाती?"

"इसे अभी लहरों का थपेड़ा खाना है, वे···श्···या पुत्र—"

भिखारी युवक आ खड़ा हुआ। धीरे धीरे बादल भी साफ हो गया। युवती ने देखा वही भिक्षुक है, और उसने भी पहिचाना उस सौन्दर्य के हाट की वेश्या को। उसकी आह भीतर ही रह गई, आँसू आँखों में ही पड़े रहे। पूछा—"कुछ चाहिये?"

"हाँ!"—भिखारी ने सरलतापूर्वक उत्तर दिया।

"पर मैं वेश्या हूँ!"

"जानता हूँ!"

"तो?"

"तो ममत्व दे दो!"

"पिता बनोगे?"

भिखारी चुप था।

"वेश्या का पुत्र लोगे ?"

भिखारी की आँखें लगीं, फिर झुकीं—"नहीं, माता का पुत्र !"

युवती ने लड़के को भिखारी के हाथ दिया। दो बूँद आँसू गिराकर पूछा—

"तुम अपनी भिक्षा पा गये ?"

"हाँ !"

"और कुछ लोगे ?"

"नहीं !"

उसकी आँखों ने कहा—निर्दयी !

"मुझे पहिचानते हो ?"

"हाँ !"

"क्या ?"

"इस आवरण के भीतर माता है !"

उसकी आँखों ने दुहराया—निर्दयी !

"और कुछ ?"

"हाँ !"

"क्या ?"

"तुम मालती हो !"—वह हँस पड़ा।

युवती रो उठी। पुत्र से बोली—

"जा, तेरी नइया का रास्ता यही बतलावेंगे।"—वह चुप थी। दोनों हाथ जुड़े थे।

"मेरे साथ चलोगी ?"—भिखारी ने पूछा।

"मैं वेश्या जो हूँ!"—वह हँसी। उसमें तिरस्कार की झलक थी।

"तो?"

"नहीं जाती!"

"अच्छा! समाज के उद्गार के लिए कठोर बनो। उसका नाश करो। इस पर ममता न दिखाओ।"

उसने यह न सोचा—युवती की आँखों में कौन सा प्रश्न था। और वह चल पड़ा।

युवती देखती रही। दूर जाने पर तालाब में जा गिरी। भिखारी ने देखा। एक साँस ली। मुसकराया—शायद पिपासा को पानी मिल जाय! और वह आगे बढ़ गया।

पिया मिलन की आस

'रमा; इस जग में कोई चीज़ स्थायी नहीं !'

'क्यों नहीं, विजय ? प्रेम······'

'नहीं रमा, प्रेम भी स्थायी नहीं मालूम पड़ता। यह केवल एक क्षणिक आवेश ही है, निरा धोखा ही है !'

'नहीं विजय ! ऐसा नहीं। यह तो केवल अपना भ्रम है, मन की उड़ान है। प्रेम मन का नहीं, हृदय का होता है आत्मा का होता है। हमारी बुद्धि सुख पाने के लिए वस्तुओं की तरफ दौड़ती है और किसी में स्थायी सुख न पाकर दूसरे की तरफ झुकती रहती है, पर जब वह थक जाती है, अपने प्रयत्न में विफल होती है, उसे सांसारिक सुख से डाह सा हो जाता है। ऐसी ही दशा में हमारी इच्छायें हवा हो जाती हैं, मन की दौड़ान मृगजल हो जाती है और हमारी बुद्धि अपने ही तरफ झुकती है। अपनी आत्मा में ही उसे शान्ति मिलती है। ऐसी आत्मा का प्रेम स्थायी है, विजय ! अपनी प्रिय वस्तु का स्थान

इन्द्री में तो होता है। एक बार इस स्थायी आनन्द को पा वह फिर दूसरी तरफ क्यों झुकेगी ?'

'ठीक है रमा ! पर यह कितनी देर के लिये है ? इसका आवेश तो क्षणमात्र का ही है। आत्मा क्षणमात्र के लिए ही तो दिखलाई पड़ती है ! और इसी के साथ इर्ष्या, डाह आदि कामुक शक्तियों का भी तो स्थान है ? उनका आतंक भी तो प्रेम को अस्थायी बनाता है ?'

'नहीं विजय ! एक पवित्र चीज़ को ये अस्थायी नहीं बना सकते। आत्मा का दर्शन क्षणमात्र के लिए ही होता है, पर यही क्षण आत्मा की सत्ता को दिखलाता है, इसी क्षण तो आत्मा प्रेम को स्थान देती है। फिर वह इसी में छिपा ही रहता है। यह दिखलाने की वस्तु नहीं; यह तो स्वयं प्रकट हो जाता है। फिर इर्ष्या डाह आदि कामुक शक्तियाँ तो इन्द्रिय हैं। इन्हीं का आवेश क्षणिक होता है। इनसे आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं विजय !'

"पर क्या मैंने तुमसे प्रेम नहीं किया था रमा ?

'देव, मुझसे यह प्रश्न क्यों ?'

'केवल प्रेम की अस्थिरता को दिखलाने के लिए, रमा !'

"कैसे नाथ ?"

'क्या तुमने मुझे धोखा न दिया रमा ? मैंने तुम्हारे लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। पर क्या तुमने उसका तिरस्कार नहीं किया ?'

'नाथ !'

'नहीं रमा !'

'देव ! मेरे देव !'—यह कह रमा चिल्ला पड़ी। देखा—निस्तब्धता फैली हुई है। उसे आश्चर्य हुआ। अभी तो वह किसी से बात कर रही थी ! क्या वह स्वप्न देख रही थी ? पर उसे तो याद है, वह कुछ बोल रही थी ! उसके शब्द अब भी उसके कानों में गूँज रहे हैं। फिर क्या उन्होंने उसका तिरस्कार ही कर दिया है ? शायद उनकी आत्मा ही बोलती रही हो। रोती हुई बोल उठी—'हे ईश्वर, मैंने क्या कर डाला ? क्या अब वे मुझे न मिलेंगे ? क्या सचमुच मैंने उन्हें धोखा दिया ? नहीं ! मैंने तो उन्हें धोखा नहीं दिया। मैं क्या जानती थी कि अपने लड़कपन का परिणाम ऐसा होगा !"

❀ ❀ ❀

स्थायी चीज़ों पर मनुष्य का कितना विश्वास है ! पर जब वह विश्वास निरा झूठा ही निकलता है, उसके हृदय पर कितनी गहरी चोट लगती है। चोट असहनीय होती है। मनुष्य को उस चीज़ से ही घृणा हो जाती है, उससे विराग हो जाता है। विजय की भी यही दशा हुई। उसने रमा के प्रेम को केवल धोखा समझा, और प्रेम को धोखा ही समझ रमा को सर्वदा के लिए छोड़ संसार के एक अदृश्य, अपरिचित कोण में विलीन हो गया। और इधर उसके चले जाने पर रमा की विचित्र दशा हो गई। उसके हृदय में यह प्रश्न उठा करता कि क्या वह विजय

का दर्शन फिर कभी कर पायेगी ? इसमें उसका विश्वास था। विश्वास ने उसे निराश न होने दिया था। दिन प्रति दिन वह बुरे बुरे स्वप्न देखती थी पर उन्हें मन का विकार समझ टाल देती थी। समय यों ही चलता गया, पर उसकी आशा घटी नहीं। उसे विश्वास होता ही गया कि उसका सूनापन अब शीघ्र दूर होगा। पर दशा विपरीत ही थी।

एक दिन उसने स्वप्न देखा। उसे वह स्वप्न कहने को तैयार न होती थी। जिस बात को उसने कभी सोचा न था, वही सामने आई। आज उसे सूझा कि प्रेम कितना कोमल है, उसके लिए कितनी शंकायें और खटके बने रहते हैं ? थोड़ी सी असावधानता में ईश्वर का प्रकोप हो सकता है, प्रेम तिरस्कार का रूप धारण कर सकता है। उसी समय उसने अपनी अटैची खोल एक युवक की तसवीर निकाली। प्रतिमा को उसने घृणा की दृष्टि से देखा। उसने ही उसे धोखा दिया था, प्रेमी से विलग किया था। उसे उसने जला डालना चाहा पर एकाएक वह चौंक उठी। उसके कानों में कोई बोल उठा—'रमा, देख प्रतिमा किसकी है ?' रमा सहम गई, सावधान हो गई। उस तसवीर ने उसे अवश्य धोखा दिया था, पर वह उसे क्यों खो बैठे ? वह थी तो उसी प्रीतम की जिसके दर्शन की आशा दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही थी। उसने अब इसी फोटो के विजय को अपना जीवित विजय समझा और स्वयं वचन लिया कि जब तक वे न आवेंगे उनकी तसवीर को ही देवता समझ पूजा करेगी।

उसका नित्य का यही नियम हो गया। एक दिन उस विजय की तस्वीर को ले यह बैठी ही थी कि उसके लड़कपन की साथिनी शीला आ पहुँची। उसने हँसते हुए पूछा—'क्यों, यह कौन है, बहन? किसको याद कर रही है?'

'जिसका स्थान हृदय में है, शीला!'—गम्भीरतापूर्वक रमा ने कहा।

'तुमने हृदय भी दे दिया?'

'आश्चर्य!'

'तब वे कहाँ हैं, बहन?'

'मुझे नहीं मालूम, शीला!'

'क्यों! तुमने इस तसवीर को कहाँ से पाया?'

'उन्हीं ने मुझे यह चित्र दिया था।'

'तब क्या वे तुमसे प्रेम करते थे?'

'हाँ!'

'तुम भी?'

'हाँ!'

'फिर वे कहाँ गये?'

'मुझे नहीं मालूम, शीला!'

'फिर तुम उनसे प्रेम क्यों करती हो?'

'क्योंकि उनका स्थान मेरे हृदय में है!'

'बहन! यह कैसी विचित्र बात कर रही हो? मैंने पहिले तो उन्हें यहाँ कभी नहीं देखा था, न तुम्हारे ही मुख से उनके

बारे में कुछ सुना था। ये कौन हैं, बहन, जिनसे तुम इतना प्रेम करती हो और वे कब आयेंगे?'

'मुझे नहीं मालूम शीला, पर आयेंगे अवश्य।'

'बहन, सच बतलाओ ये कौन हैं? कहाँ गये?'

'शीला' इनके प्रेम पर मुझे विश्वास है। मेरे ही कारण वे मुझसे अलग हुए हैं। मैंने ही मिलन के सुख में विष घोल दिया है। एक दिन मैं ही उनसे पूछ बैठी थी—विजय, क्या एक ही से प्रेम किया जाता है? वे गम्भीर हो गये पर हँसते हुए उत्तर भी दिया—नहीं, एक से क्यों? बहुतों से प्रेम किया जा सकता है यदि हो सके तो।—मुझे लड़कपन सूझा, और मैं कह उठी—विजय! मैं तो दो से प्रेम करती हूँ। वे फिर गम्भीर हो गये। उन्होंने मेरे दोनों प्रेमियों का नाम पूछा। मैंने उनकी तरफ इशारा किया और फिर दौड़ी हुई उस कोने में जा इसी तस्वीर को दिखलाते हुए कहा—एक इनको। वे चुप थे। मैं कहती ही गई—और मैं इन्हें तुमसे ज्यादा चाहती हूँ। उनकी आँखों ने धोखा दिया शीला! और मेरा भाग्य फूटा। वे पहिचान न सके कि चित्र उन्हीं का है। उठ खड़े हुए और घर से निकल गये। मैंने उन्हें बुलाया। उन्होंने केवल यही उत्तर दिया—फिर कभी आऊँगा, रमा देवी!—पर वे अब तक न लौटे।'

'तब क्या वे आयेंगे, बहन?'

'हाँ शीला, उन्होंने कहा जो है—वे अवश्य आवेंगे।'

'पर मुझे विश्वास नहीं, बहन!'

'क्यों, शीला?'

'क्योंकि वे पुरुष हैं। पुरुषों का हृदय कठोर होता है। वे अब चले गये हैं। उन्हें तुम्हारे दुःख का क्या पता? उन्हें कोई दूसरी ही मिल जायेगी।'

'नहीं, ऐसा न कहो शीले! प्रेम के लिए स्त्री-पुरुष, दोनों का हृदय समान ही होता है। हृदय में दो के लिए स्थान नहीं हो सकता, शीला!'

'पर इसके लिए तुम कितनी वेदना, कितनी सिहरण सहन करोगी, बहन?'

'जितनी करनी पड़ेगी, शीला।'

'नहीं बहन, अपने को सम्हालो। अपना जीवन चौपट न करो। विजय, तुम्हें अब तृप्त न कर सकेगा।'

'ऐसा क्यों कहती हो शीला? वे दाम्पति जीवन का सुख भले ही न दे सकें, पर प्रेम की तृप्ति उन्हीं में है, बहन! प्रेम एक से किया जाता है, अनेक से नहीं। मुझे मेरे प्रेम में ही सुख है। जब दूसरे से प्रेम असम्भव है, उन्हें मैं कैसे भूल सकती हूँ?

'तब क्या तुम्हें यह संसार प्यारा नहीं, अपना जीवन प्यारा नहीं?'

'है, पर उन्हीं के लिए।'

'पर वे अब कहाँ, बहन?'

'अपने ही हृदय में, शीला !'

'कैसी पगली हो बहन ! तुम्हारा यह पागल प्रेम तुम्हें पागल बना देगा। ऐसे प्रेम से क्या लाभ, बहन ?'

'तुम्हें मालूम नहीं शीला, कि प्रेम का घाव कितना गम्भीर होता है। इसकी दवा केवल प्रेम ही है। वह भले ही मुझे पागल बना दे, पर मुझे उसी पागलपन में सुख है।'

'पर तुम्हारे नेत्र किसे देख सुख पा सकेंगे, बहन ?'

शीला ! नेत्रों के सुख से हृदय का सुख बड़ा होता है। नेत्र किसी को भूल जा सकते हैं, पर हृदय भूल नहीं सकता। नेत्र अन्धे हो सकते हैं, पर हृदय के नेत्र कभी मुँद नहीं सकते।'

'पर बहन, प्रेम तो हृदय के नेत्रों को भी बन्द कर उसे सर्वदा के लिए अन्धा बना देता है।

"नहीं शीला, प्रेम, हृदय के नेत्रों को खोल देता है। उसे सुख दिखलाई पड़ने लगता है।'

'पर कितनी देर के लिए ?

'जितनी देर के लिए हृदय है !'

'बहन तर्क की आवश्यकता नहीं। तुम अच्छी तरह से सोच देखो—तुम्हें कहाँ सुख है।'

'हाँ शीला, मैंने अच्छी तरह से सोच लिया है। उनके प्रेम में ही मुझे सुख है। और प्रेम में तो तर्क का स्थान भी नहीं। प्रेम हृदय का है, तर्क दिमाग़ का ! फिर तर्क करने की क्या आवश्यकता ?'

'पर बहन, क्या तुमने सोचा है कि समाज क्या कहेगा?

'प्रेमियों, का समाज कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, शीला!'

'सही बहन! पर क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम्हें संसार में रहना है। कितने ही व्यक्ति तुम्हारे साथ रहेंगे। सुख का दाम्पति जीवन बितायेंगे। तुम सूनेपन की सहचरी क्योंकर बन सकोगी?'

'पर मैं तो सूनेपन की सहचरी नहीं शीला! मेरा हृदय सूना नहीं। उसमें एक मूर्ति है। हृदय ही का सूना होना सूनापन है। केवल व्यक्तियों का साथ रहना ही सूनेपन को दूर नहीं कर सकता!'

'पर दाम्पति जीवन का सुख?'

'प्रेम का सुख दाम्पति जीवन के सुख से बढ़कर है, शीला। मैं तो दाम्पति जीवन को प्रेम का अनुचरी ही समझती हूँ। फिर उन्होंने मुझसे आने के लिए भी तो कहा है! तब मैं दाम्पति जीवन के सुख से भी क्यों निराश होऊँ?'

'पर उनके आने के पहिले तुम इतने मनुष्यों के बीच अपने मन को किस तरह से एकाग्र कर सकोगी, बहन? मन की चंचलता दूर करना वायु ही की तरह बड़ा दुष्कर होता है।'

'ठीक है शीला! पर क्या तुम नहीं जानती कि अपनी प्रिय वस्तु का स्मरण ही मन को एकाग्र कर सकता है। अपने प्रिय की तस्वीर मेरे हृदय में है। फिर उनकी एक फोटो भी तो मेरे पास है। इसी फोटो के विजय को अपना देव मान,

अपने को समर्पित कर दूँगी, उन्हीं पर ध्यान लगाऊँगी। इसका परिणाम यह होगा कि मेरे चित्त की वृत्तियाँ क्षीण हो जायेंगी और चित्त शुद्ध हो जायेगा। फिर मुझे उसी अपने देवता का रूप दिखलाई पड़ेगा। मेरा मन निष्काम रहेगा और फिर मेरा प्रेम मुझे निष्काम बनाये रहेगा।'—

'बस कर! मैं जान गई रमा! मेरा तर्क तुम्हें विचलित न कर पायेगा। तुम्हारे प्रेम को मैंने आज समझा है, बहन! पर तुम बार-बार कहती हो कि वे आयेंगे। क्या सचमुच में वे आयेंगे बहन?'

'हाँ, शीला! वे अवश्य आयेंगे। उन्होंने कहा है।'

'पर मेरा हृदय नहीं मानता, बहन!'

'क्या कहती हो शीला? फिर तुमने वही पहिले-सी बातें शुरू कीं। तुम्हें अभी प्रेम की सत्ता क्या मालूम? तुम तो प्रेम से अनभिज्ञ हो। प्रेम के आकर्षण को तुम क्या जानो? सत्य प्रेम, प्रेम को खींचता है। प्रेम, प्रेम पाकर ही स्थिर रहता है। उस पर आघात भले ही पहुँचे, पर वह आघात प्रेम की स्थिरता को मिटा नहीं सकता। वे मुझसे खिंचे हुए हैं, पर वे मुझसे प्रेम अवश्य करते होंगे। उस प्रेम में भले ही मुझे पाने की इच्छा न हो, पर यदि मेरा प्रेम सच्चा है तो अवश्य ही उनके प्रेम को खींचेगा। हृदय के आकर्षण को हृदय ही जान सकता है, शीला! मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि वे मेरे हैं, मेरे ही रहे हैं, और मेरे ही रहेंगे। फिर मैं उनसे मिलने की आशा क्यों न करूँ, बहन?'

'ईश्वर तुम्हें सुखी करे, बहन। वे तुम्हें मिलें। मैं तुमलोगों के सुखी जीवन को देख सकूँ।'

'हाँ, शीला ! यदि ईश्वर ने चाहा तो ऐसा ही होगा।'

'पर बहन, तुम्हारा प्रेम शिखर पर चढ़ता ही जा रहा है। यदि तुम्हारी यही दशा रही तो तुम कहीं पागल न हो जाओ !'

'हाँ शीला ! जिस दिन मैं अपने चंचल मन को एकाग्र कर सकूँगी, उसी दिन मैं भूल जाऊँगी अपने को, संसार को, और केवल याद रहेंगे वे, मेरे देव ! यही तो पागलपन है, बहन ? इसी में मुझे सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी।'

× × × ×

कितने ही ही दिन आये और चले गये। वर्ष पर वर्ष बीत चले, पर विजय का पता न लगा।—और एक दिन गाँव वालों ने सुना कि पगली रमा आज घर में नहीं है। कभी-कभी वे सुन लिया करते थे कि अमुक जगह पर एक पगली है, उसके हाथ में एक तस्वीर है, और वह गाया करती है—' पिया ढूँढ़न को जाती हूँ !' लड़के उसको पगली कह कर चिढ़ाते हैं। उनको क्या मालूम कि यह कौन है ? पर गाँव वाले तो उस पगली को फिर कभी देख न पाये।

स्वप्न

देखा—आकाश को चीरती हुई पर्वत-श्रेणियाँ मेरी तरफ आँखें गड़ाये देख रही हैं। एक मुर्दनी सी छाई हुई है। ऊपर श्वेत साँवले बादल हिम का पान कर मस्त झूम रहे हैं, नीचे भयंकर आँधी, चट्टानों का विनाश, सरिताओं का विद्रूप राग, प्रकृति का नग्न नृत्य देखते मनुष्य का एक जत्था बढ़ता जा रहा है। बदहोशी का रूप लिए गंगा बढ़ी आ रही हैं, मनुष्य पुत्रों को देख कुछ संकुचित सी होती हैं और फिर पछाड़ खा नीचे को गिरती हैं। गर्जन होता है—कौन ?

'मनुष्य—सन्तान, माँ !'

'माँ ?'

'हाँ, माता !'

गंगा की धारा शान्त हो जाती है। ध्वनि उठती है—'कहाँ जा रहे हो पुत्र ?'

'गौरी-शंकर कैलाश पर।'

'लौट चलो।'

'नहीं, माँ !'

'फिर मृत्यु के मुख में जा रहे हो।'

'तुम पहिले से ही संदेश लेती चलो ना, माँ ! आशीर्वाद दो।'

'आशीर्वाद ?'—और गंगा की धारा तीव्र हो उठती है। मनुष्य का जत्था आगे बढ़ता है—बढ़ता जा रहा है।

'कौन ?'—पृथ्वी काँप उठती है। मनुष्य भौंचक से हो देखने लगते हैं।

'कहाँ बढ़े जा रहे हो, मनुष्य ?'

'कौन ? तुम—पर्वत ?'

'हाँ !'

'कैलाश पर जा रहे हैं, पर्वत !'

'मनुष्य, तुम मेरी चादर से छिपे देवता को न पा सकोगे, कैलाश सूना है, न देवलोक की अप्सरायें हैं, न नन्दनवन है और न अमृत का कलश ही है।'

'उन्हीं को ढूँढ़ने तो मैं चल रहा हूँ, पर्वत ?'—अग्रगामी मनुष्य हँस उठा।

पर्वत भी हँसा, आँधी की तरह, गर्जन की तरह। मनुष्य डर गया।

'देवता देखने को देवता बन आ, मनुष्य ? विज्ञान का गर्व न कर।'

'पर्वत, तुममें है क्या ? एक सौन्दर्य ही तो ? केवल उसे ही देख, उसे ही पा हमें शान्ति तो नहीं। सौन्दर्य के हम कायल

नहीं। हमें कुछ और चाहिये।—और पर्वत, विज्ञान का गर्व क्यों न हो? मंगल अब कितना दूर है?'

'तुम मंगल में पहुँच रहे हो मनुष्य! तो लो, देखो, शक्ति आजमाओ।'—हरहर करती वर्फ की चट्टान आ गिरती है। मनुष्य डरकर मूर्छित हो गिरता है।

'होश सम्हालो, मनुष्य!'—उसकी आँखें खुल जाती हैं।

—'अब भी नहीं लौटोगे?'

'नहीं।'

'—हाँ तुमने अभी सौन्दर्य को याद किया था। तुम्हें उसकी प्यास नहीं, उसकी चाह नहीं; तुम्हें तो कुछ और ही चाहिये ना?'—और पर्वत चुप हो जाता है।

मनुष्य ने होश सम्हाला। देखा—एक धवल वस्त्रधारिणी देवी उसके माथे पर हाथ फेर रही है। सोचा कहीं स्वप्न तो नहीं। पलकें गिरीं और उठीं, गिरीं और उठीं। नारी वहीं है। नर सिहर उठा—'तुम देवी हो?'

वह देखती रह जाती है। आँखों की गहराई मनुष्य को विक्षिप्त कर देती है। वह लिपट जाता है—'मैं प्रेम करता हूँ।'

'मनुष्य यही तो तुम्हारी कमजोरी है। तुम सौन्दर्य देखते ही प्रेम करने लगते हो। सौन्दर्य के देवता, आगे बढ़ो। तुम्हें और भी तो कुछ करना है।'—और देवी चल पड़ती है।

'रुको'—वह लौट आती है।

'नर नारी से प्रेम न करे?'

'करे पर उसमें कसक का कौन सा स्थान ?'—और वह फिर लौट पड़ती है।

'तो तुम जा रही हो ?'—मनुष्य निराश हो जाता है।

'अभी आऊँगी—और वह ओझल हो जाती है।

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरी तरफ से सुन्दर अश्वत्थामा आता है—धनुष बाण से सुसज्जित। मनुष्य उसे देख घबड़ा जाता है।

'मनुष्य मेरी इस एक ही देवी को भी ले जाना चाहते हो ?'

'मैं प्रेम करता हूँ !'

'प्रेम करते हो !'—उसके होंठ काँप उठे। '—कोई पाप करता है; फल भोगता है। पर मनुष्य-सन्तान भविष्य में भी उसे भोगते ही देखना चाहती है। तुम्हारे ही जैसा मैं तुम्हारे ही श्राप से योगी बना फिरता हूँ। एक ही साथिनी है। उसे भी तुम ले जाना चाहते हो—प्रेम का नाता जोड़कर !'—एक आह निकली।

'तुम कौन ? अश्वत्थामा ?'

'हाँ !'

'तुम अबतक जीवित हो ?'—उसे जैसे विश्वास न था।—'यहाँ क्या ?'

अश्वत्थामा हँसा—'जो अपना पाप भूलकर दूसरे को श्रापित करना नहीं भूला उसी मनुष्य सन्तान को देवताओं से दूर रखने के लिए ही तो यहाँ हूँ, मनुष्य !'

'पर देवता हैं ?'—मनुष्य हँसा। अश्वत्थामा चुप रहा।

—'पर देवताओं के साथ रहने पर भी तो तुममें मनुष्य की कमजोरी बनी हुई है, अश्वत्थामा! तुम भी अधिकार चाहते हो; तुममें ईर्ष्या है।'

'हाँ, मनुष्य का चिरसंचित कोष कैसे खाली हो जाय!'—और वह एक तरफ चल दिया।

× × × ×

मनुष्य थका, निराश, मुर्झाया सा पड़ा हुआ था। उसमें आगे बढ़ने का उत्साह नहीं, हाथ पैर को काठ मार गया, शरीर नीला पड़ गया, खून जम गया। आँखें खोल शून्य की तरफ देखता रहा।—कौन जाने उस बादल के भीतर देवता हों! पर नहीं, देवता कहाँ? वे तो कैलाश पर वास करते हैं। कहीं उधर ही तो इन्द्रपुरी है, अप्सरायें हैं और शायद वह देवी भी।—मनुष्य की आँखें पर्वत से जा लगीं।

पर्वत बोला—'मनुष्य देख, अब तो तू अपनी विद्या यहीं रहने देगा; चोरी करने तो न जायगा?'

'मैं अब बढ़ ही कहाँ पा रहा हूँ, पर्वत! तुममें विचरण करने वाली देवी ने पहले ही मुझे पंगु बना दिया। और उस अश्वत्थामा ने भी तो मुझे डरा दिया!'—

पर्वत हँसा।

'—मैं यहीं रह जाऊँगा। कोई मनुष्य आयेगा। देखेगा मैं पंगु होकर यहीं पड़ा हूँ। फिर वह आगे बढ़ने का प्रयत्न करेगा।

तुममें वह देवी होगी, तो उसे ढूँढ़ मनुष्य को देगा। अश्वत्थामा उसे कर न सकेगा। नारी का स्थान नर के पास ही तो है।'—उसे जैसे दीखा नारी उसके पास आने को घबड़ा रही है; अश्वत्थामा विद्रूप हँसी हँस रहा है।

'मनुष्य तुम अब भी अपना गर्व न भूलोगे?'

उसी समय मनुष्य देवी को देख चिल्ला पड़ता है। उसे दीखता है, वही नारी पर्वत शिषर पर खड़ी आने को उतावली हो रही है।

'मैं आता हूँ, देवी!'—वह धवल वस्त्रधारिणी देवी भी नीचे उतरती दीखती है। '—इन्हीं में से एक को पा, पूछते हो पर्वत, गर्व न छोड़ोगे?'

'अश्वत्थामा तुम्हारा है?'

'हाँ।'

'क्यों कर?'

'उसमें भी मनुष्य स्वभाव है।'

पर्वत फिर जोर से हँस पड़ता है। मनुष्य की आँखें ऊपर जा लगती हैं। देखता है—अश्वत्थामा कुछ दूर पर नारी के साथ खड़ा है। उसके होठों पर हँसी है—'मनुष्य, केवल इसीलिए तो मेरा स्वभाव तुम्हारे जैसा है? ले जा। यह तुम्हारी ही होकर रहना चाहती है। तू ही इसे सम्हाल।'

मनुष्य पागल की तरह दौड़ पड़ता है। भूल जाता है उसे चढ़ना है, आगे बढ़ना है। बीहड़ रास्ता आँखों से ओझल हो

जाता है। मनुष्य गहरे खड्ड में जा गिरता है और उसके ऊपर वह नारी, वह धवल भस्माविभूषित नारी।

❀ ❀ ❀ ❀

उसके साथी उसकी मृतलाश उठाते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है उसकी आँखें हँस रही हैं। विचारों को क्या मालूम, उसकी आराध्य देवी उस पर हाथ फेर रही है, और वह स्वर्ग में है।

आँख में आँसू भर ऊपर की तरफ देखा। पर्वत गर्व से ऊँचा मस्तक किये खड़ा था। मनुष्य पीछे को मुड़ पड़े।

नीचे घाटी में आ उन्हें एक साधारण पुरुष दीख पड़ा, पर सुन्दर नहीं, घृणित। पूछा—'तुमलोग जा रहे हो ?'

'हाँ !'

'फिर कब लौटोगे ?'

'शीघ्र ही।'

'हाँ !!'—और वह आगे बढ़ जाता है। मनुष्य जाति के प्रति उसमें आदर है, दया है।

जत्था डरकर नीचे उतरता है। और फिर वे पूछते हैं—'वह कौन था ?'

'अश्वत्थामा'—एक बोला।

'हाँ, ऐसा ही तो महाभारत में उसका रूप दिया है। शापित है। फिर भी हमारे प्रति दया थी उसकी आँखों में।'

और लोगों ने आश्चर्य से फिर कर देखा। अश्वत्थामा कहीं भी न था। पर पर्वत उसी तरह मस्तक ऊँचा किये हँस रहा था।

और मैं जग गया था।